परिक्रमा विज्ञान

आगमवेत्ता साध्वी श्री वैभवश्री 'आत्मा'

प्रस्तुति एवं सम्पादन : साध्वी श्री देशनाश्री 'विदुषी'
साधिका प्राग्भा विराट

प्रथम संस्करण : 2018
प्रतियाँ : 1000
मूल्य : ₹200/-प्रति

प्रकाशक :
जय गुरूदेव साहित्य
एलार्का हाउस, 11 वीं 'ई' रोड
सरदारपुरा, जोधपुर (राज.)
मो. 9799985703, 9660195555

प्राप्ति स्थलः
1. समकित सेवा समिति (रजि.)
भन्साली मेन्शन, बी. एस. एन. एल ऑफिस के सामने,
महावीर नगर, पाली-मारवाड़ (राज.)-306401
मो. 9414120563

2. चरम मंगल ज्ञान सेवा समिति (रजि.)
बी-205, संगम अपार्टमेन्ट, सैक्टर-9, रोहिणी, नई दिल्ली-110085
मो. 9650475566

e-mail : mail@charammangal.com
website : www.charammangal.com

© All rights reserved. Jai Gurudev Sahitya, Jodhpur, Rajasthan

---

PARIKRAMA VIGYAN
by *Aagamvetta Sadhvi Shri VaibhavShri 'Aatma'*

परिक्रमा संभव है, छूना संभव नहीं

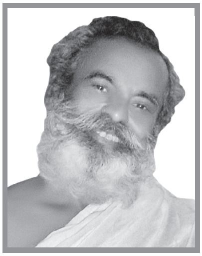

–विराट गुरूजी

हम स्वस्थ भरपूर हैं, कि भू-रवि उचित दूर है।
फूल खिला यूँ महक रहा है, कि कोई उसको छू न रहा है।
अणु-शक्ति से खेर है-यह तो भेदने की बस देर है।
दृष्टि में आनन्द है, क्योंकि विचार मंद है।
इस जग की हर अविभाज्य इकाई
कभी किसी को छू न पाई
मानव! तेरी बुद्धि क्यों भरमाई
दूर से आनन्द ले ले ना रे भाई।।

इस दुनिया में कभी भी कोई भी एक परमाणु किसी दूसरे परमाणु का स्पर्श नहीं कर सकता है। हाँ! गतिमान हो सकता है, एक-दूसरे की परिक्रमा कर सकता है। जितनी संख्याबद्ध परिक्रमाएँ अथवा संतुलित परिक्रमाएँ, उतने ही पुद्गल के रूप।

'परिक्रमा' एक ऐसी आध्यात्मिक विधा है, जो सभी धर्मों में समान रूप से पाई जाती है। यद्यपि इसका प्रारम्भ इस युग के आदिकर प्रभु ऋषभ की देशना से हुआ है। जब गुरू ज्ञान को शिष्य समर्पित होता है, तब वह गुरू की पर्युपासना से पूर्व उनकी परिक्रमा करता है। परिक्रमा द्वारा बिना स्पर्श किए भी स्पर्श संभव होता है। इस अद्भुत विज्ञान को आज तक अनेकों ने अनुभव किया है, आप भी इसे जानिए और स्वयं वेदन कीजिए।

जिसने भी अनुभव किया उन सबका देश, काल, पात्र, भाव के अनुसार समझाने का तरीका अलग-अलग रहा। इस बात पर मानसिक विवाद में उलझने से क्या फायदा? सत्यम् साक्षात् केवलम्!

समर्पण

गुरूजी ! वह माँगू निर्वाण

कुछ ना बिगड़े आपका, हो अपना कल्याण।
गुरूजी ! वह माँगू निर्वाण।।टेर।।

1. क्षमासमण सुख धाम तुम, शांति रस सत स्रोत
जो फरसे छन शुद्ध हो, ऐसा आगम पोत
क्षमा करो लेश्या वलय, छूना मुझको त्राण।।
गुरूजी ! वह माँगू निर्वाण।।

2. कर प्रदक्षिणा भाव से, धारूँ अभिगम पाँच
पर्युपासन ध्यानमय, अन्तर् उघड़े साँच
इस युग के तुम ही गुरू, अर्हा प्रगट प्रमाण।।
गुरूजी ! वह माँगू निर्वाण।।

3. नहीं वित्त यश-पासंड सुख, चाह न शब्द विलास
शुद्ध बने अस्तित्व निज, माँगू वह उल्लास
दो तो दो गुरू योग्यता, उर्ध्वगमन हो प्राण।।
गुरूजी ! वह माँगू निर्वाण।।

1. स्रोत- सोता, source, आवक का स्थान
2. फरसे- छूना, स्पर्श करे
3. पोत- पवित्र कपड़ा, जिससे पानी छाना जाता है।
4. पासण्ड- संप्रदाय, गच्छ, मार्ग, धाम

परिक्रमा-विज्ञान

–वाचनाचार्य डॉ. विशाल मुनि

आपके हाथ में जो छोटी-सी, सुन्दर-सी पुस्तक रचना है, इसका नाम है-'परिक्रमा विज्ञान'। यह शोधपूर्ण रचना है। इसकी विषय-वस्तु हैः गुरूवंदन सूत्र 'तिक्खुत्तो' का पाठ। तिक्खुत्तो के पाठ पर विशेष चिंतन-मनन निदिध्यासन के साथ शोधपूर्ण विवेचन है-'परिक्रमा विज्ञान'।

आगमवेत्ता श्री वैभवश्री जी म.सा. 'आत्मा' वास्तव में बहुत ही गहरी विचारशील साध्वी रत्ना है। इनका स्वाध्याय अपने आप में बहुत ही गहरा है। यही कारण है कि आप नये से नये विचार वैज्ञानिक तर्कपूर्ण व्यवस्था के साथ प्रस्तुत करती रहती हैं।

आपके अध्ययन में मौलिक चिंतक एवं आगमों के ज्ञाता श्री विराट गुरूजी का विशेष प्रभाव है। सूत्रों के गूढ़ार्थ आपने विराट गुरूजी से ही प्राप्त किए हैं। अतः उनका भरपूर मान-सम्मान साध्वीजी के दिल में सदैव बना रहता है।

'परिक्रमा-विज्ञान' पुस्तक के लिए हमारी हार्दिक मंगलकामनाएँ हैं। यह कृति सबके लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसा पूरा विश्वास है।

गुरू-शिष्य का संबंध बनाता गुरू-वंदन

-साध्वी देशना श्री 'विदुषी'

समस्त श्रुतज्ञान राशि का व श्रुतदाता सत्गुरूदेव का सतत् आभार, जिन्होंने हमें अपने स्वरूप का ज्ञान कराया।

'तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि' सदियों से बोलते आ रहे थे किन्तु कभी भी परिक्रमा-प्रदक्षिणा की प्रक्रिया से गुज़रे नहीं थे। 'ये पद बोलने के नहीं करने के हैं, स्वयं करो और जानो', यह देशना विराट गुरूजी की रही। अब हम अतिशय आनंद के साथ कहते हैं कि जब हम इस प्रदक्षिणा की प्रक्रिया से गुज़रे, तब हमने अपने भीतर अद्भुत रूपान्तरण पाया। विवाह विधि के फेरे जैसे वर-वधू के भाग्य को परस्पर जोड़ देते हैं, ऐसे ही परमात्मा व गुरू की परिक्रमा शिष्य को गुरू की चेतना से जोड़ देती है। शिष्य पिघलने लगता है, गुरू में घुलने लगता है, गुरू बहने लगता है, शिष्य में बसने लगता है-यह शब्दों में बयाँ न किए जा सकने योग्य अद्भुत अनुभव इस परिक्रमा व प्रदक्षिणा को करने से होता है।

जो 'तिक्खुत्तो रहस्य' हमने पूज्य श्री विराट गुरूजी से जाना और अनुभवा, उसे ही आगमवेत्ता गुरूवर्या श्री वैभवश्री 'आत्मा' जी म.सा. ने अपने अमृतसर वर्षावास के प्रवचनों में विस्तार से प्रकाशित किया, वे ही प्रवचन आप सबके लिए इस पुस्तक के माध्यम से प्रकाशित किए जा रहे हैं। आप सब भी प्रत्यक्ष परमात्मरूप निर्ग्रन्थ सतगुरूदेव की अर्थात् अपने इष्ट की प्रदक्षिणापूर्वक वंदना करके अपने जीवन को सौभाग्यमय, ज्ञान-दर्शन, आनंदमय बनाएँ-यही मंगल भावना।

परिक्रमा विज्ञान-अनुभव का दान

-साधिका डॉ. प्राग्भा विराट

प्रागैतिहासिक काल से समण परम्परा में 'परिक्रमा' का विधान प्रचलित रहा। आत्म-रूपान्तरण की इस अद्भुत तकनीक को समणों ने, न केवल जाना और जीया वरन् समूचे विश्व को इसका ज्ञान देकर भौतिक व आध्यात्मिक क्रान्ति के द्वार खोल दिए। न सिर्फ अन्य धर्मों ने वरन् भौतिक वैज्ञानिकों, गणितज्ञों, भू-वैज्ञानिकों, खगोलविदों ने भी 'परिक्रमा' का रहस्य-ज्ञान जानकर भौतिक पौद्गलिक जगत के कई नियमों का प्ररूपण किया।(Laws were formulated).

आज धर्मों में परिक्रमा का विधान तो बचा है, किन्तु विज्ञान भुला दिया गया है। जैन समुदाय की बात करें तो दिगंबर व श्वेतांबर मूर्तिपूजक समुदाय में अभी भी परिक्रमा विधान तो मौजूद है लेकिन श्वेतांबर स्थानकवासी परम्परा में तो यह विधान प्रायः लुप्त ही हो गया है।

'परिक्रमा' अपने गुरू की, इष्ट की, प्रभु की क्या परिवर्तन ला सकती है.... ये विवेचनीय नहीं वरन् अनुभूति का विषय है। इस अनुभव से व्यक्ति तभी गुज़र सकता है; जब हृदय में समर्पण व भक्ति के साथ-साथ इसके सम्पूर्ण विज्ञान व विधान की जानकारी भी हो।

आत्मज्ञानी सत्गुरूदेव पूज्य श्री विराट गुरूजी ने अपने शिष्यों को 'परिक्रमा' का रहस्य ज्ञान दिया, उन्हें अनुभूति से गुज़ारा। उनकी पर्युपासना करते हुए कई-कई अनुभव साक्षात् हुए।

सन् 2010 के अमृतसर चातुर्मास में पूज्या गुरूवर्या आगमवेत्ता वैभव श्री जी म.सा. ने आत्मज्ञानी श्री विराट गुरूजी की ज्ञानकृपा से प्राप्त परिक्रमा विज्ञान का अनुभव दान अपने प्रवचनों के माध्यम से दिया। आपकी अद्भुत

प्रज्ञा व सरल अभिव्यक्ति ने जैन दर्शन के अनेकानेक विषयों को वैज्ञानिक तरीकों से व प्रायोगिक स्तर पर विवेचित किया है। अमृतसर श्रीसंघ के तत्कालीन अध्यक्ष श्री महेन्द्रकुमार जी व महामंत्री श्री पदम जी जैन ने गुरूवाणी की ऑडियो रिकार्डिंग व्यवस्था कर इस ज्ञान को सुरक्षित रखने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। प्रवचनों की रिकार्डिंग को लेखनीबद्ध करने में गुरूभक्त श्री सरितकुमार जैन (मेरठ) का योगदान सराहनीय है। संपादन का गुरूतर भार साध्वी श्री देशना श्री जी म.सा. ने बड़ी कुशलता से संभाला। पुस्तक, टाईपिंग व सेटिंग में सुश्री हिमानी गर्ग (जोधपुर) व श्री शुभम जैन (दिल्ली) का सतत सहयोग सदा सराहनीय है।

इस पुस्तक को प्रकाशित करने में श्रुतप्रेमी गुरूभक्त श्री पवन जी बोर्दिया (मुम्बई) के आर्थिक सहयोग के लिए चरम मंगल परिवार आपका आभारी है।

गुरू वंदन सूत्र व पंच अभिगम विज्ञान का यह विवेचन पुस्तक रूप में आप सबके हाथों में सौंपते हुए हम आल्हादित हैं, प्रमुदित हैं। यह पुस्तक अपने आप में अनूठी है, संपूर्ण है। परिक्रमा का विज्ञान, पंचअभिगम की समझ, वंदना के फल हमारे जीवन में, अनुभव में उतरे.....यही इस पुस्तक का उद्देश्य है। यह ज्ञान आपके लेश्यावलय को बदल कर आपको गुरू से एकात्म करा दे..... यही मंगल भावना.....

जय हो।।

गुरु वन्दन सूत्र

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं (करेमि)
वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं
मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि (मत्थएण वंदामि)

–आवश्यक सूत्र

तीन परिक्रमा सहित गुरु वन्दन

तीन परिक्रमा सहित वंदन, करूँ आदर सत्कार नमन।
सदा कल्याण मंगलं आप, दिव्य गुरु चैत्य व हर्ता ताप।
करूँ पर्युपासन चित्त लाय, रहे साता का जतन उपाय।।
(परिक्रमा–प्रदक्षिणा का अवसर होने पर शिष्य इस पाठ द्वारा वन्दन करे।)

क्षमा क्षमण वन्दन

हृदय से क्षमासमण वंदन, करूँ आदर सत्कार नमन।
सदा कल्याण मंगलं आप, दिव्य गुरु चैत्य व हर्ता ताप।
करूँ पर्युपासन चित्त लाय, रहे साता का जतन उपाय।
(प्रदक्षिणा ना कर सकते हो तो गुरू के समक्ष खड़े होकर इस पाठ का उच्चारण करें।)

भाव गुरु वन्दन

भावमय सत्गुरुवर वंदन, करूँ आदर सत्कार नमन।
सदा कल्याण मंगलं आप, दिव्य गुरु चैत्य व हर्ता ताप।
करूँ पर्युपासन चित्त लाय, रहे साता का जतन उपाय।
(गुरू सामने ना हो तब इस पाठ द्वारा गुरूदेव की वंदना करें।)

–आत्मज्ञानी पूज्य श्री विराट गुरूजी

तिक्खुत्तो रहस्य

–आत्मज्ञानी पूज्य श्री विराट गुरूजी

निर्ग्रंथ दर्शन में गुरू के समीप जाने पर उनके अतिशय से आह्लादित होना एवं परम् विनय से 'मैं कुछ नहीं जानता मगर गुरू कृपा से सब कुछ जान जाऊँगा (सीखूँगा)' के भाव से गुरू के रूप में ज्ञान की आराधना करना, गुरू महाराज को 'वांदना' (वंदना) कहलाता है। वंदना अर्थात् वाणी द्वारा पूजा आराधना करना, गुरू के नैश्रय में खोज करना, गुरू से ज्ञान दर्शन आनन्द अनुभूति की याचना करना एवं गुरू द्वारा (वंदन) सत्य के गूढ़ अर्थों का दिया जाना होता है।वैदिक धर्म में यज्ञ सम्पन्न करके शिष्य गुरू द्वारा टीका लगवाता है, जिससे शिष्य गुरू की भक्ति में व्याप्त होता हुआ, ज्ञान, शान्ति व आनन्द को प्राप्त होता है।उसे वन्दना कहा जाता है।

प्रचलित गुरू वंदन सूत्र निम्न प्रकार से है :-

1. तिक्खुत्तो के पाठ से- प्राथमिक वंदना- गुरू दर्शन व सत्संग प्राप्त होते ही की जाती है।

2. इच्छामि खमासमणो के पाठ से- गर्हा वंदना-पर्युपासना के समय की जाने वाली मध्यम वंदना है। यह वंदना पर्युपासना, प्रतिक्रमण, निन्दा व गर्हा करके फिर गुरू को क्षमा याचना करते हुए की जाती है।

3. णमोत्थुणं पाठ से- चरम वंदना- यह गुण स्तुति वन्दना है।

साधारण व्यवहार में वंदना में नमोस्तुते, नमस्ते, नमोऽत्थुणं, मत्थएण वंदामि आदि कहा जाता है। मत्थएण वंदामि का व्यवहार प्रायः स्थानकवासी समाज में प्रचलित है।

अब हम तिक्खुत्तो के पाठ से की जाने वाली वंदना का अनुयोग आख्यान करते हैं। प्रथम करणानुयोग है, जिसमें साधक तीन बार गुरू की आदक्षिणा, प्रदक्षिणा करता है। दूसरा चरणानुयोग है जिसमें भक्ति एवं विवेकपूर्वक पाँच अभिगम धारण एवं चार शरण स्वीकार करता हुआ साधक पर्युपासना करता है।

गुरू वंदन करणानुयोग सूत्र

1. तिक्खुत्तो- तीन बार, तीन लोकों की (भूर्भुवस्वः)

2. आयाहिणं- आदक्षिणा, दक्षिण की ओर से

3. पयाहिणं- प्रदक्षिणा, परिक्रमा करता हूँ।(करेमि)

इस अनुष्ठान में तीन बार गुरू के दाहिने हाथ की तरफ से अपने दाहिने हाथ को गुरू की तरफ रखते हुए, गुरू को तीनों लोक मान कर उन्हें अपना ज्योति केन्द्र (Stationary) मान कर परिक्रमा की जाती है।

आयाहिणं-दक्षिणा (दक्ष+इनन्+आच्) शब्द का अर्थ-गुरू में मर्यादित (स्थिति) गुरू तक (यात्रा), गुरूमय (विस्तृत) हो जाना है। तन-मन-वचन-धन गुरू को भेंट कर देने से सम्पूर्ण समर्पण को आदक्षिणा कहते हैं। दक्षिण शब्द ही अपने आप में पूर्ण पुरूषत्व व गुरू अर्थ रखता है। ऐसे दक्ष (गुरू) को स्वीकार कर ऐसे गुरू की मुर्ति को केन्द्र बनाकर समर्पित हो जाना, प्रवज्जित होना दक्षिणा कहलाता है। गुरू को दाहिने में रखकर स्वस्ति दिशा में (Clockwise) क्रिया रूप में आदक्षिणा होती है। ठीक वैसे ही जैसे खगोल विज्ञानविदों के अनुसार पृथ्वी सूर्य की व पृथ्वी के लेश्यावलय (Magnetic Field) की परिधि पर पृथ्वी से भेजे गए सारे उपग्रह रॉकेट आदि पृथ्वी की परिक्रमा करते हैं। परिक्रमा हमेशा लघु (शिष्य) गुरू की करता है।

पयाहिणं- गुरू की योग्यता को अपने दाहिने रखकर पीछे से अनुसरण करना प्रदक्षिणा है। आदक्षिणा व प्रदक्षिणा दोनों मिलकर परिक्रमा बनती है। गुरू के बाएँ हाथ से (पीछे की तरफ से) दाएँ हाथ की तरफ (सामने) होकर परिक्रमा करना। गुरू का (योग्यता का) अनुसरण करना होता है।

कुल मिलाकर मन-वचन-काय से गुरू के ज्ञान, तेज, आज्ञा में अपने आप को समर्पित करना या मर्यादित रहना आदक्षिणा प्रदक्षिणा होती है। भावपूर्वक यह क्रिया करने से शिष्य शनैः-शनैः गुरूत्व प्राप्त करता रहता है। योग्यता शक्ति प्राप्त करता रहता है। तिक्खुत्तो की प्रथम गुरू परिक्रमा तन शुद्धि करती है। यह नरक की परिक्रमा मानी गई है। दूसरी परिक्रमा वचन शुद्धि करती है। यह देवलोक की परिक्रमा करना होता है और तीसरी परिक्रमा मन शुद्धि करती है, यह तिर्यक् लोक की परिक्रमा मानी गई है। चौथी आधी

परिक्रमा आत्मा को शुद्ध करने वाली उत्कृष्ट परिक्रमा होती है, जो गुरू के समक्ष बैठकर ही की जाती है। यह तुरिय परिक्रमा पाँच अभिगम धारण करके चार शरण पवज्जित करना होती है। जो गुरूदेव को साक्षात् सिद्धि मान कर उनके चरणों में स्थित (पर्युपासित) होना होता है। प्राग्भरा में स्थिति का भाव होता है। इस प्रकार 3.5 या 4 फेरे कहो अथवा सप्तपदी में शिष्य अपने गुरू के साथ उपासना अवधि या चिरकाल हेतु एकाकार परिणीत हो जाता है। पर्युपासना में भी योग्य शिष्य हमेशा गुरू के पीछे या बाँई तरफ ही बैठता है। गुरू को सदा दायीं तरफ रखता है। व्याख्यान समोशरण में जैसी भी व्यवस्था हो, वह अलग बात है।

‘करेमि’ पद का उच्चारण आजकल प्रचलन में है। किन्तु उसे बोलने की आवश्यकता नहीं। सिर्फ तीन परिक्रमा करना ही अपने आप में पर्याप्त है। अगर बोला भी जाए तो जैसा ठीक समझो।

गुरूवंदन चरणानुयोग

चरणानुयोग के कुल नौ पद है। पाँच अभिगम पद व चार शरण पद है। शिष्य चार अभिगम धारण करके फिर चार शरण-पवज्जा (स्वीकार) करता है। फिर पंचम् अभिगम में पर्युपासना करता है।

पाँच अभिगम

1. वंदामि- वांदता हूँ, चित्त के विसर्जन द्वारा ज्ञान पूजा करता हूँ। आपके ज्ञान का तिलक करता हूँ। अब मेरे अपने विचार उपस्थित नहीं है। मैं सचित् (सहचित्) नहीं हूँ।

2. णमंसामि- न अहं भाव से प्रमाद विसर्जन करता हूँ। अचित्त का भी विवेक करता हूँ। मूर्च्छा से जागता हूँ। सचित (विचारों) के विसर्जन भाव के पश्चात् अब शेष अचित्त (उपस्थिति समोशरण आदि की यथास्थिति, बनावट, रहन-सहन, पहनावा, अनावश्यक दृश्य आदि सभ्यता मान्य घटनाएँ जिसमें साधक का चित्त नहीं रहे आदि) का भी विवेक करता हूँ।

3. सक्कारेमि- उत्तरासंग व्यवहार, उचित वस्त्रादि, शिष्ट पहनावा, भद्र आचरण आदि शिष्ट कार्य (सत्कार्य) करता हूँ। सेवा, पूजा, ध्यान करता हूँ।

4. सम्माणेमि– सं+मान (गुरू को उत्कृष्ट समर्पण) करता हूँ। हृदय से गुरूदेव को श्रेष्ठ मानता हूँ। हाथ जोड़कर करबद्धता (अपनी कार्य शक्ति) गुरू को अर्पित करता हूँ। दूसरों से गुरू को श्रेष्ठ मानता हूँ।

5. पज्जुवासामि– चार शरणें ग्रहण करने के पश्चात् बैठकर समग्रचित्त होकर पर्युपासना की जाती है। ऐसे मोक्ष रूप सत्‌चित् आनन्दघन प्रकाशपुंज गुरू के समीप बैठकर उपासना करता हूँ।

चार शरणः–

1. कल्लाणं– हे गुरूदेव! आप ही कल्याण रूप है। प्रत्यक्ष में तो इस क्षेत्र के सर्वोत्तम द्रव्य शुद्ध तीर्थंकर देव अर्हत् का उदीयमान कल्य (कल्याणकारी प्रभात) रूप आप ही तो हो। आपका शरण स्वीकारता हूँ। मैं भी यथासंभव हर द्रव्य शुद्धि करके पर्युपासना करता हूँ।

2. मंगलं– प्रत्यक्ष में तो लोकाग्र मोक्ष स्थित सर्वथा क्षेत्र शुद्ध सिद्ध भगवान का अहं विगलित, अभंग प्रेमानन्द रूप आप ही तो हो। मैं भी यथासंभव हर क्षेत्र शुद्धि करके अपना मम् गाल के अहं विसर्जित करके मंगल पर्युपासना करता हूँ।

3. देवयं– हे प्रत्यक्ष गुरूदेव! वर्तमान काल के समकित साधु, दिव्य आभामण्डल से सुसज्जित, दिव्य लब्धियों के स्वामी आप ही तो प्रकाश रूप देव (भाग्य) हैं। मैं आपका शिष्य वर्तमान कालीन सभ्यता की अपेक्षा, संस्कारों की शुद्धि करके यथासंभव पर्युपासना करता हूँ।

4. चेइयं– हे गुरूदेव! चैत्य रूप आगम की समकित समझ आप ही हैं। भाव शुद्ध निर्ग्रन्थ देव आपके चैत्य रूप ज्ञान शक्ति, याद्दाश्त, व्याख्या शैली को निरन्तर नमस्कार हो। मैं आपके रूप में आगम शरण को स्वीकार करता हूँ। यथासंभव पर्युपासना करता हूँ। गुरू आज्ञा का अनुशासन, मर्यादा स्वीकार करता हूँ।

जब हम गुरू के समक्ष जाते हैं, तभी तिक्खुत्तो से वन्दना होती है। वापिस आते समय अभिगम नहीं होता। 'णमोत्थुणं' कह कर आया जा सकता है। अथवा 'इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए' कहा जा सकता है। इस प्रकार भाव वन्दना की जा सकती है, जिसमें साधक भाव करता है कि मैं घर जाकर भी संसार के प्रपंच से यथाशक्ति दूर रहूँगा।

तिक्खुत्तो आगमिक समझ

-आगमवेत्ता वैभवश्री जी 'आत्मा'

प्रभु महावीर की वाणी के रूप में प्राकट्य आगम ज्ञान को कालान्तर में सुरक्षित रखने के लिए पूर्व मनीषियों द्वारा व्यवस्थित रूप दिया गया है। मूल आगम को संस्कारित सूत्रों में बद्ध करने से कुछेक लाभ हुए हैं किन्तु सबसे बड़ी हानि यह हुई कि भावार्थ (आगम हार्द) प्रायः लुप्त हो गया है। महान अर्थ, वाणी रंजन में ढल कर क्षुद्र व सीमित सोचगत रूढ़ रह गया है। लकीर की फकीर परिपाटियाँ चल पड़ी और वे भी समय-समय पर लौकिक एषणा एवं लौकिक समझ के अनुसार बदलती रही और जन-साधारण द्वारा अपनाई जाती रही। कोई इसी संबंध में हो, ऐसी बात भी नहीं, ऐसा हर आप्त पुरूष के पश्चात् उनके अनुयायियों द्वारा होता आया है। अब हम ज़रा शोध से प्राप्त तथ्य को उजागर करते हैं कि गुरूवंदन विधि का हार्द क्या है ? मूल कारण अगर खो जाए तो बिना ताले की चाबी (परिपाटी) धर्मार्थी को कोई लाभ नहीं दे पाएगी।

प्रभु महावीर जब विराजमान थे तब शिष्य भाव से उपस्थित होने वाला भव्य जीव प्रभु की तीन बार परिक्रमा करता था।

मूल सूत्र पाठ- 'तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ करित्ता..' यह आदक्षिणा प्रदक्षिणा इष्ट (गुरू) के दाहिने तरफ से बाईं तरफ (Clock wise) स्वस्ति दिशा में की जाती रही है। तीन बार गुरू प्रदक्षिणा करते हुए साधक तीन लोक नर्क लोक, स्वर्ग लोक एवं तिर्यक् लोक से विरत होते हुए चौथी अर्द्ध परिक्रमा में भाव प्राग्भरा पर (गुरू रूपी सिद्धावस्था) स्थित होता है। परिक्रमा सर्पण में गुरू रूप से ओंमकार की वर्तुलाकृति की तरंगे उद्भव होकर वातावरण को धार्मिक रूप देती है।

साधक तीन परिक्रमा करते हुए स्वयं में रहे स्त्रैण भाव (ईड़ा नाड़ी) पुरूषैण भाव (पिंगला नाड़ी) एवं संध्या भाव (सुषुम्ना नाड़ी) से समर्पित (विरत) होता है एवं गुरू की उपासना में समग्रमना समकित (सहस्रासार) को उपलब्ध होता है।

गुरू की प्रदक्षिणा करते हुए साधक इष्ट के ज्ञानगुण, दर्शनगुण एवं चरित्रगुण की परिक्रमा स्वयं में रहे त्रियोगों (मन, वचन, काया योग) से करता है। यह परिक्रमा इष्ट अथवा गुरू के 3.5 हाथ की दूरी पर से की जाती है। परिक्रमा कर रहा साधक चूँकि इष्ट देव के लेश्या वलय (Magnetic Field) में प्रवेश पाता हैं। अतः इष्ट देव की शुभ लेश्या के परमाणु साधक को प्राप्त होते है और वह सत्गुरू के अतिशय प्रभाव से भर जाता है। साधक में पुरूषार्थ जगता है।

इस प्रकार तिक्खुत्तो के पाठ का यह करण भाग करणानुयोग है जो गुरू की परिक्रमा किए जाते हुए पूर्ण होता है। इसमें तीन पदों का उच्चारण किया जा सकता है। न करे तब भी चलता है। विधि महत्वपूर्ण है, आवश्यक है।

आज प्रायः परिक्रमा विधि प्रचलन में नहीं है। श्वेताम्बर व दिगम्बर मंदिर मार्गी सम्प्रदायों में तो किसी न किसी रूप में यह विधि फिर भी जीवित है। कई स्थानकवासी परम्पराओं ने इस तर्क के साथ में इस विधि को अमान्य कर दिया है कि जब प्रभु समवशरण में देशना दे रहे होते हैं तो भला आगन्तुक द्वारा परिक्रमा कैसे संभव होती होगी। मगर वे बन्धु यह समझने का प्रयास ही नहीं करते कि अगर परिक्रमा नहीं की जाती थी तो झूठ बोलने की प्रेरणा तो भगवान के समक्ष हो ही नहीं सकती थी। यह तो विवेक का विषय है। परिक्रमा अवसर अनुसार गुरू की होती है और ऐसा समवशरण में ही हो, यह कतई आवश्यक नहीं है। गुरू तो हर समय शिष्य को उपलब्ध रहता है। जब भी शिष्य आए, अपने गुरू की परिक्रमा कर अपना स्थान ग्रहण करें। फिर परिक्रमा वे ही जीव करते थे, जो प्रभु महावीर में सत्‌गुरू को पाते थे और स्वयं शिष्य भाव से समर्पित थे। दशाश्रुतस्कन्ध आदि कई शास्त्रों से यह तथ्य प्रकट होता है। जब राजा श्रेणिक ने अपने प्रमुख उत्तराधिकारियों को यह आज्ञा प्रदान की कि जब पंचयाम धर्म के प्रवर्त्तक प्रभु महावीर पधारे तो यह प्रिय संवाद मेरे पास पहुँचाना। प्रभु महावीर क्रमशः विचरण करते हुए गुणशील उद्यान में पधारे। राजा श्रेणिक के प्रमुख अधिकारी वहाँ पर आए, उन्होंने श्रमण भगवान महावीर को उस समय के प्रचलित व्यवहार के अनुसार झुककर तीन बार वंदन नमस्कार किया, नाम गौत्र पूछ कर धारण किया। मूल पाठ है–'तएणं महतरगा जेणेव समणे भगवं महावीरे तिक्खुत्तो वंदंति, नमंसंति वंदित्ता नमंसिता, नामं

गोयं पुच्छंति....' मगर महाराजा श्रेणिक जब स्वयं उनके दर्शनार्थ गए तो तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ करित्ता जाव पज्जुवासामि, तीन परिक्रमा करके पर्युपासन करते हैं। जबकि उनके अधिकारियों ने कोई परिक्रमा नहीं की। करण पदों का उच्चारण भी नहीं किया, न कोई अभिगम ही धारण किया।

कहने का तात्पर्य इतना ही है कि परिक्रमा जैसी महान साधना को हम किसी तर्क से नकार नहीं सकते और नकारने का कोई औचित्य ही नहीं है, न ही उसका स्वरूप बिगाड़ सकते हैं। जैसा कि आजकल हाथों को तीन बार मस्तक के सामने घुमाया जाता है ऐसी बोध रहित परिपाटी किसी ने चला दी है और साधक अपने आप को मान लेता है कि मैंने बारी निकाल दी व परिक्रमा पूर्ण हुई व मान ली गई। हर धार्मिक विधि के पीछे हेतु कारण होते हैं। वैज्ञानिक आधार होता है। मगर परिपाटी में कैद होकर विधि अपने अर्थ खो देती है। फिर नई पीढ़ी अपनी सुविधा के अनुसार अनुष्ठान विधि को भी बदल डालती है। आप किसी विधि को अपनाओ-यह आपकी अपनी स्वतंत्र सत्ता है मगर उसे विकृत करने का अधिकार आपको किस ने दिया? मूल आगमिक विधियों को जब-जब संस्कारित परिपाटी बना दिया जाता है तो जिज्ञासाएँ रूक जाती है एवं रूढ़ औपचारिकताएँ रह जाती है। बिना वास्तविक परिक्रमा किए हाथों को घुमाते हुए झूठ-मूठ कहना कि मैं तीन आदक्षिणा प्रदक्षिणा करता हूँ, क्या अपने आप से, नियति से एवं गुरू भगवन्त से असत्य भाषण नहीं है? धोखाधड़ी नहीं है? वह भी धर्म करते समय। यह तो वैसा ही हुआ कि कोई मात्र बोले कि '1008 बार वंदना हमारी है' और वंदना मात्र एक करे अथवा एक भी नहीं करे। क्या धर्म व भक्ति भी ढपोरशंख की तरह शेखी बघारने एवं दिखावे का विषय है।

गुरू दरबार में (स्थानक, उपाश्रय, मंदिर) प्रवेश करते समय तीन बार निस्सीहि-निस्सीहि बोलकर यह भाव संकल्प किया जाता है कि मैं शरीर, वचन व मन से सभी सावद्य, व्यापारों, सांसारिक क्रिया-कलापों को पृथक करता हूँ। समस्त अभिनयों से मुक्त स्वरूपस्थ होता हूँ। इस प्रकार सुन्दरता पूर्वक, विधिपूर्वक गुरू चरणों में उपस्थित होना अभिगम कहलाता है। अभिगम पाँच प्रकार से होता है, जिन्हें मूल आगम में तिक्खुत्तो के पाठ से चरण पदों द्वारा इंगित किया गया है। वे पद क्रमशः इस प्रकार है- 1. वंदामि, 2. णमंसामि, 3. सक्कारेमि, 4. सम्माणेमि, 5. पज्जुवासामि।

प्रकट सूत्र पाठ इस प्रकार से है- 1. सचित्त का त्याग, 2. अचित्त विवेक, 3. उत्तरासंग (नत-शरीर, शिष्ट चेल युक्त काया), 4. कर जोड़, 5. एकाग्रचित्तता (उपासना)।

वंदामि अभिगम में साधक संसार में भ्रमित चित्तों (मन खण्डों) का विसर्जन करता है। नमंसामि अभिगम में शिष्य अहं विसर्जन करता हुआ, समष्टि का आदर आभार करते हुए अचित्त विवेक करता है। यहाँ यत्ना विशेष होती है। सक्कारेमि में सत्कार परिवेश, वस्त्र व अनुशासन, आसंग विवेक है। शिष्टताप्रद (उत्तर+असंग) विवेक है। अनावश्यक दर्पकरण का विवेक है। आजकल उत्तरासंग का प्रचलित अर्थ मुँहपति दुपट्टा आदि लगा दिया गया है। उस काल में उत्तरासंग (उत्तरीय) पुरूषों द्वारा छाती ढ़कने के वस्त्र को कहा जाता था। साधारणतया घर, खेत आदि में पुरूष उघाड़ी छाती, पूर्वासंग (कमर के नीचे धोती) धारण किए रहते थे। गुरू चरणों में व सभा समारोह, Society आदि में वह शिष्टतावश उपस्थित होते समय वस्त्र विवेक करते हुए उत्तरासंग धारण करते थे। स्त्रियाँ अवनत हो गुरू चरणों में उपस्थित होती थी (भगवती सूत्र)। स्त्रियों द्वारा सिर ढ़ापणा उत्तरासंग की एक प्रक्रिया ही है। सम्माणेमि अभिगम में दोनों हाथों को जोड़कर भक्त, प्रभु को अपनी कार्य शक्ति समर्पित करता है। इस प्रकार चार अभिगम करने के पश्चात् पाँचवे अभिगम (पज्जुवासामि) से पूर्व शिष्य चार शरण स्वीकार करता है। जो निम्न पदों से इंगित किए गए है-

1. कल्लाणं- गुरू रूप में द्रव्य रूप साक्षात् अरहंत प्रभु का शरणा।

2. मंगलं- गुरू रूप में क्षेत्र रूप भावित सिद्ध शिला, सिद्ध प्रभु का शरणा।

3. देवयं- तमसोमाज्योतिर्मय दिव्य प्रकाश रूप, दिव्य शक्ति पुंज गुरूदेव साधु पद का शरणा।

4. चेइयं- वाणी, ज्ञान, धर्म का शरणा। साक्षात् गुरू मूर्ति में आगम वाणी, ज्ञान, दर्शन, धर्म का शरणा।

इस प्रकार चार शरणे स्वीकार कर लिए जाने पर साधक पर्युपासना के योग्य होता है। पर्युपासना में साधक (शिष्य) मन वचन काया से गुरू के समीप उपस्थित होता है। समग्र मौन उपस्थिति मात्र भी पर्युपासना है। यही उपनिषद् है। प्रकट मुक्ति है। अब साधक भिन्न नहीं रहता वरन् अद्वैत हो जाता

है। अतः झुकाने को सिर ही नहीं बचता। 'मत्थएण वंदामि' किसी भी उपलब्ध शास्त्र में तिक्खुत्तो के पाठ के साथ अंतिम पद के रूप में दृष्टि गोचर नहीं होता। निस्सीहि के साथ ही जब मस्तिष्क का निषेध ही हो चुका है तो भला झुकाने को क्या बचा ? हाँ साधक (शिष्य) का उक्त वंदन ''हियएण वंदामि'' हो, ऐसा संभव है। अथवा (बचे हुए शेष द्रव्य) शीश को गुरू चरणों में समर्पयामि कहे या सीसेणं पायेसु संघट्ठेमि कहे।

अस्तु! इस प्रकार सविधि भावपूर्वक गुरू वंदना सदा कल्याणकारी होती है। परिपाटी में हुए सत्य का साक्षात्कार कर समकित भावपूर्वक गुरू वंदन हो। यही मंगल मनीषा–

सबका कल्याण हो। कल्याणमस्तु।

विषय-वस्तु

परिक्रमा किसकी? 23

कैसे आएँ गुरु दर पर....? 35

अभिगम का ज्ञान 47

तीन परिक्रमा कैसे व क्यों ? 62

वन्दामि.....णमंसामि.... 78

चैत्य-पद-सूत्र 96

पज्जुवासामि-पर्युपासना 115

न अति निकट, न अति दूर 131

णमोत्थुणं वन्दना 147

वंदना का फल क्या 161

वंदन से कटते भव बंधन 177

गुरु वन्दना

हाथ जोड़ दाईं ओर से, कर तीन बार प्रदक्षिणा।
कर रहे हैं देव की हम, भाव भीनी वन्दना।।
नमन करते हैं सदा, सत्कार श्रद्धा भाव से।
और करते हैं सदा, सन्मान सरल स्वभाव से।।
मानते हैं आप ही, कल्याण मंगल रूप है।
जानते हैं आप ही, गुरुदेव ज्ञान स्वरूप हैं।।
देव चरण उपासना, हरती है हर संताप को
कर रहे हैं वन्दना, मस्तक झुका कर आपको-3।।

: आचार्य श्री विमल मुनि

गुरु आमन्त्रणा

आओ पधारो आंगणे, घर को सुपावन कीजिए।
ज्ञानमय मंगलिक वचन से, त्रास सब हर लीजिए।।
भोज औषध वसन पात्र, ग्रहण गुरुवर कीजिए।
शिष्य की सेवा विनय को, यूँ प्रफुल्लित कीजिए।।
कामना साता की करता, सुखद गुरु के गात की।
चूक हो तो माफ करना, शिष्य के हर बात की।।
प्रभु! शिष्य के हर बात की।।

: आत्मज्ञानी पूज्य श्री विराट गुरुजी

1. गात- शरीर, काया

परिक्रमा किसकी ?

आगम ज्ञान एवं ज्ञानी भगवंतों को वन्दन! नमन!! सभी भव्य आत्माओं की भव्यता को प्रणाम।

वर्तमान समय में प्रभु महावीर का धर्म शासन चल रहा है। यह जिन शासन प्रभु महावीर के पूर्व से ही इस धरा पर चला आ रहा है। कहते हैं कि इस युग में, इस काल चक्र में समण-धर्म की शुरुआत प्रभु ऋषभदेव ने की। उनके बाद समय-समय पर तेईस तीर्थंकर हुए। अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर समण भगवान महावीर हुए।

हर तीर्थंकर ने तत्कालीन समय में धर्म क्षेत्र में प्रचलित विकृतियों को दूर किया, समाज में व्याप्त कुरीतियों का उन्मूलन किया, कितनी ही रूढ़ परम्पराओं का निराकरण किया। अपने-अपने समय में हर तीर्थंकर की वाणी क्रान्तिकारी रही। उन्होंने लोगों को जीना सिखाया और लोगों को मोक्ष का वह मार्ग बतलाया- जहाँ व्यक्ति संसार में रहते हुए, जीते हुए, बन्धनों से मुक्त हो जाता है। विजातीय प्रभावों से दूर हो जाता है, परे हो जाता है, उनसे ऊपर उठ जाता है। ऐसा मार्ग सभी तीर्थंकरों ने मौजूदा युग को दिया।

हर तीर्थंकर की देशना में कुछ बातें समान होती है तो साथ ही कुछ विशिष्टताएँ भी सदैव होती ही है। वे कुछ विधियाँ जो प्रत्येक तीर्थंकर के शासन काल में समान रुप से रही, उनमें से गुरू वंदन की विधि 'परिक्रमा-विज्ञान' की चर्चा हम यहाँ करेंगे। कोई विधान जब सभी तीर्थंकरों के समय में समान रूप से विद्यमान रहता है, तो कालान्तर में वह संस्कृति बन जाती है। जब प्रत्येक तीर्थंकर के शासन काल में ऐसी कोई विधि समान रूप से मौजूद रहती है, तो वह विधि समण संस्कृति की पहचान बन जाती है अथवा स्वयमेव समण संस्कृति बन जाती है। उन विधियों में से ऐसी विधि, जो मूलतः समण संस्कृति की पूरे भारत को या कहें पूरे विश्व को देन है, उसकी चर्चा हम यहाँ करने जा रहे हैं। वह विधि है- परिक्रमा की विधि। परिक्रमा का विज्ञान।

पूज्य पुरूष को, इष्ट गुरू को दाहिनी ओर रख कर उनके चारों ओर

प्रदक्षिणा करना 'परिक्रमा' कहलाता है। शिष्य गुरु की परिक्रमा करता है। यह परिक्रमा समण संस्कृति के पुरोधा प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ भगवान के समय से, यावत् भगवान महावीर के समय में भी होती रही है। चौबीसों तीर्थंकरों के शासनकाल में जब भी किसी उपासक या भक्त में समर्पण का भाव जगता, अपने इष्ट के प्रति, गुरु के प्रति भक्ति का भाव उठता तो वह पर्युपासना से पूर्व उन के चरणों में सिर झुकाता और तीन बार परिक्रमापूर्वक वंदना करता। आप, हम, सभी परिक्रमा से परिचित तो होंगे ही। हाँ, हम आज जिस समाज में रह रहे हैं, स्थानकवासी समाज में, यहाँ यह परिक्रमा की विधि और उसका विज्ञान भुला दिया गया, छोड़ दिया गया। मन्दिर वाले, चैत्य वंदन करने वाले लोग इससे भली-भाँति परिचित हैं। जब भी वे मन्दिर जाते हैं तो प्रतिमा जी की परिक्रमा करते हैं। हम सभी के मन में परिक्रमा सम्बन्धी कई प्रश्न उभरते हैं, जैसे-परिक्रमा क्यों की जाए, कब की जाए, करने से क्या होगा? अगर करनी चाहिए तो फिर हम क्यों नहीं करते इत्यादि। इन प्रश्नों के उत्तर हम जानने का प्रयास करें।

पहली बात-परिक्रमा क्यों की जाए? गुरू वंदना करते हुए गुरूदेव के आभावलय में स्वयं को समर्पित करता हुआ साधक-शिष्य परिक्रमा करता है। तो, प्रथम बात यह है कि यदि किसी लघु को गुरुत्व प्राप्त करना है तो वह लघु 'गुरु' के चारों ओर परिक्रमा करे। शिष्य लघु है और गुरु 'गुरु' है। शिष्य को गुरु के आत्म गुणों से प्रेम है, भक्ति है, वह गुरू गुण को समर्पित होना चाहता है, गुरू गुणों को अपने भीतर जगाना चाहता है, उन गुणों को उपलब्ध होना चाहता है तो वह भक्ति करे कि 'हे गुरुदेव! जो गुण आप में प्रकट हो चुके हैं, वे गुण मेरी आत्मा में भी प्रकट हो। आप ने इतनी कठोर साधना की, तपस्या की और सत्य को उपलब्ध हुए। यह ज्ञान, यह बोधि आपकी कृपा से हमें भी प्रकट हो। हम आपकी कृपा दृष्टि में रहें। हमें भी शिष्यत्व प्रदान करें।'

शिष्यत्व कैसे प्रदान करे गुरू? जब तक कोई पात्र न बने, तब तक गुरू कैसे प्रदान करे? गुरु देना भी चाहे, मगर जब तक सामने वाला उचित पात्र न हो, तब तक दिया नहीं जा सकता। उसको पात्र बनाना, यह भी गुरु का ही काम है। अपात्र को पात्र बनाने का काम भी गुरु का और जब वो पात्र बन जाए, तब उसमें स्थिरता पैदा करना व ज्ञान दर्शन चारित्र रूपी त्रिरत्न देना-यह भी काम

गुरु का ही। गुरु को आदि से लेकर अन्त तक, निरन्तर काम करना है, शिष्य पर।'ज्ञान' कोई भौतिक वस्तु या पदार्थ तो है नहीं जिसे कि दिया या लिया जा सके।यह आदान-प्रदान का विषय भी नहीं है।ज्ञान-दर्शन आदि गुण आत्मिक है, आध्यात्मिक है।इन्हें आत्मिक तल पर ही पाया जाना संभव है।आत्मिक तल पर शिष्य गुरू के समीप आ सके, इसके लिए ही वह गुरू की प्रदक्षिणा करता है और अपने अहं का विलय करता जाता है।गुरू ही शिष्य को यह ज्ञान देता है कि वह अपने इष्ट की, अपने लक्ष्य की, अपने गुरू की परिक्रमा करे।

जो भी आपका लक्ष्य है, उस लक्ष्य की परिक्रमा करो। जिसका जैसा लक्ष्य होता है, वह उसकी परिक्रमा करता है। जिसका लक्ष्य पैसा कमाना है, ज़रा देखो, कितनी परिक्रमा करते हैं, वे पैसे की ? अर्थलोलुपी इंसान पैसे के इर्द-गिर्द कैसा घूमता है ? पैसा पाने के लिए कितनी भाग-दौड़ करता है ? पैसा कमाने के लिए दिन-रात भूखा-प्यासा रह कर भी कितनी मेहनत कर लेता है। यह धन की परिक्रमा है।कोई व्यक्ति धन की परिक्रमा क्यों करता है ? क्योंकि उसकी समझ है कि धन है तो सब कुछ है और धन नहीं तो कुछ भी नहीं।ऐसा ही है ना, 'पास में पैसे हैं, तो लोग पूछेगें आप कैसे हैं ? वरना कौन पूछता है।' 'बिन अर्थ सब व्यर्थ।' पैसा नहीं तो कुछ भी नहीं।ऐसी सोच है इसीलिए लोग पैसे की परिक्रमा करते रहते हैं लेकिन कितनी ही परिक्रमा कर लो पैसे की, होगा क्या ? पैसा तो मिल जाएगा, लेकिन पैसे के साथ मिलेगी बहुत सारी परेशानियाँ और पैसा जिसे मिलेगा, वह व्यक्ति भी एक दिन चला जाएगा।

अमेरिका की एक घटना है। अमेरिका का एक सुप्रसिद्ध उद्योगपति था, करोड़ों की सम्पदा का मालिक..., करोड़ों ही नहीं, अरबों-खरबों की सम्पदा का मालिक...। धन के पीछे पागल। एक दिन उसने सोचा, मैं पता तो लगा लूँ कि मेरी तिजोरी में धन कितना है ? सो, तिजोरी खोली, लॉकर खोला। तिजोरी बड़ी सुन्दर, लम्बी-चौड़ी थी और पूरी-की-पूरी नोटों से भरी हुई।मन में आया कि नोट गिन लूँ ज़रा।तो अब नोटों को गिनने के लिये वह तिजोरी के अन्दर चला गया।अब तिजोरी के अन्दर बैठ कर वह पैसे गिन रहा है।अपने धन का हिसाब-किताब कर रहा है, अपने धन की परिक्रमा कर रहा है और इतने में ही तिजोरी का दरवाज़ा बन्द हो जाता है। ऑटोमैटिक लॉकअप सिस्टम था वहाँ।एक निश्चित समय के बाद अपने आप लॉक हो जाता।यदि बाहर किसी के पास चाबी हो, तो खुल जायेगा। लेकिन तकलीफ की बात, कि चाबी तो

स्वयं उसके पास है। जो तिजोरी में बैठा है, चाबी उसके पास है। अब वह कितना भी चिल्लाए लेकिन उसकी आवाज़ तिजोरी से बाहर जानी मुश्किल; अगर चली भी जाए, तब भी कोई उपाय नहीं। उसका दम घुटने लग गया। प्यास भी बड़ी ज़ोर से लगी। जब उसने देखा कि अब तो निकलने का कोई उपाय नहीं; तो उसने कागज़ के एक टुकड़े पर लिखा कि 'अभी मुझसे कोई एक गिलास पानी के बदले तिजोरी का सारा धन भी माँगे तो मैं उसे सारा धन देने के लिये तैयार हूँ। कोई मुझे एक गिलास पानी दे दे......।' बस, वह एक नोट पर इतना ही लिख पाया और वहीं पर ढेर हो गया। बाद में तो वहाँ से उसका शव ही निकला।

इस प्रकार, आदमी परिक्रमा करता है धन की और परिक्रमा करता है स्त्री की। उसे लगता है, स्त्री-सुख है तो सब सुख है। अगर अच्छी स्त्री मिल गयी और स्त्री का सुख मिल गया तो ज़िन्दगी सार्थक हो गई। लेकिन स्त्री की परिक्रमा करना मुश्किल है, कोई आसान काम नहीं है। स्त्रियों को कम मत आँकना। चाहे बुद्धिमान हो या धनवान वह सबको अपना चेला बना लेती है। अपने चरणों में झुकाती है, खूब घुमाती है, खूब रुलाती है, खूब मनवाती है-ये सारे काम स्त्री करवाती है; और पुरुष स्त्री की परिक्रमा करता है, क्योंकि उसे लगता है कि स्त्री मेरा लक्ष्य है, स्त्री सुख मेरा इष्ट है; तो जिसको लक्ष्य बनाया, उसकी परिक्रमा तो करनी ही पड़ेगी। स्त्री की परिक्रमा करने वाला पुरूष दिन-रात उसकी अपेक्षाएँ पूरी करने में जुटा रहता है। उसके आगे-पीछे घूमता रहता है। वह दिन को रात कहे तो रात कहता है और रात को दिन कहे तो दिन। उसकी स्थिति 'आँख छताँ अंधा' वाली हो जाती है। कहा भी गया है कि 'कामान्धो नैव पश्यति' अर्थात् कामान्ध को कुछ और दिखलाई नहीं पड़ता। धन के नशे से भी ज्यादा गहरा काम-वासना का नशा है, और फिर इन दोनों से भी ज्यादा सत्ता का नशा है।

सत्ता पाने व हथियाने के लिए आकुल-व्याकुल चित्त नैतिक-अनैतिक, अर्थ-अनर्थ कुछ भी करने में मशगूल हो जाता है। सत्ता यानि कुर्सी। हाँ! कुर्सी की परिक्रमा करने वाला व्यक्ति, कहीं कुर्सी मिलती हो, कहीं पद मिलता हो, कहीं पोस्ट मिलती हो, कहीं नाम मिलता हो, कहीं यश मिलता हो, तो वह दिन-रात कितने भी चक्कर काट लेगा। कई पुरुषों की ऐसी वृत्तियों को देखकर स्त्रियाँ बड़ी हैरान होती है और पूछती है कि तुम अपना खाना-पीना छोड़ देते हो-किसलिये ? आखिर इस चुनाव में रखा क्या है ? वो कहते हैं, तुम

नहीं समझ सकते इस चुनाव में क्या है ? सत्य है, चुनाव के दिनों में लोग अपना खाना-पीना, सोना-नहाना, सब कुछ भूल जाते हैं-बस इलेक्शन का दौर आया तो उनकी स्थिति ही कुछ और हो जाती है। मानो उन लोगों को बुखार चढ़ जाता है- इलेक्शन में जीतने का, कुर्सी प्राप्त करने का। और कुर्सी का बुखार जिसे चढ़ जाता है, वह अपनी कुर्सी के लिए सब कुछ कर सकता है। पूरी रात भी घूम सकता है। यदि कोई कह दे, तुम इस कुर्सी के लिये पूरी रात चक्कर काटो, कुर्सी तुम्हें मिल जाएगी, तो कौन नहीं काटेगा ? चक्कर भी काट लेगा आदमी। कुर्सी की परिक्रमा कर लेगा। पैसे की परिक्रमा कर लेगा। स्त्री की परिक्रमा कर लेगा। लेकिन 'गुरु' की परिक्रमा ? हम में से कौन है, जो गुरु की परिक्रमा करते हैं ? हमें लगता ही नहीं कि 'गुरु' हमारा इष्ट भी है। 'गुरु' हमारा लक्ष्य भी है। गुरु-गुण जब तक व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य नहीं बनता, तब तक वह गुरू की परिक्रमा नहीं करता। कर ही नहीं सकता, करने की इच्छा ही नहीं पैदा होगी, भावना ही नहीं होगी। उसके दृष्टिपथ पर गुरु आएँगे ही नहीं। उसे ख्याल ही नहीं आएगा कि मुझे अपने गुरुदेव की परिक्रमा करनी है। इसीलिए, हम गुरु की परिक्रमा नहीं करते।

लोग परिक्रमा करते हैं, मात्र अपने स्वार्थों की। आप देखो, आप के घर में कोई शादी होने वाली हो, चाहे आपके भाई की बेटी की हो या बहिन की बेटी की हो या नज़दीक में कोई भी विवाह होने वाला हो, आप खरीददारी करना शुरु कर देती हो। कितनी बार बाज़ार में जाती हो, कितनी साड़ियाँ ले कर आती हो, कितने सूट सिलवाती हो, और फिर कोई साड़ी पसन्द न आए ? जहाँ से वह साड़ी खरीदी है, अगर वह दुकान दूर है तो आप क्या करोगे ? कह दोगे, दुकान इतनी दूर है। चलो छोड़ो ना, अब नहीं पसन्द आई तब भी रख लो। रख लोगी ? नहीं, दुकान कितनी ही दूर हो, साड़ी पसन्द नहीं आई है, तो वापस जाएँगे। वह साड़ी उसको देंगे, पचासों साड़ियाँ फिर निकलवाएँगे और फिर ढूंढ़ेंगे। एक नहीं, पचासों दुकानें घूम जाएँगे। हम पूरे बाज़ार की परिक्रमा कर लेंगे; क्योंकि हमारा लक्ष्य है कि हम सुन्दर दिखें। हम सुन्दर कपड़े पहनें। सुन्दर दिखाई दें; इसलिये हम बाज़ार की, ब्यूटी पार्लर की अनेकों बार परिक्रमा कर लेते हैं। शादी तो बेटी की होनी है और माँ ब्यूटी पार्लर में पच्चीसों दफ़ा चक्कर काट लेती है। उसको लग रहा है, बेटी सुन्दर दिखे, मैं भी सुन्दर दिखूँ। शायद जवानी के दिन याद आ जाते होंगे।

इंसान उन सब चीज़ों की परिक्रमा कर सकता है, जिसे वह चाहता है, जिसे वह महत्व देता है, जिसे पूजनीय समझ लेता है। लेकिन इन्सान अपने 'गुरु' की परिक्रमा नहीं करता। अपने गुरु की परिक्रमा करने वाले शिष्य हर युग में बहुत थोड़े ही रहे हैं लेकिन रहे हैं। आज के युग में तो हमें गुरु लोग दिखाई भी नहीं पड़ते। 'गुरु' सामने भी आ जाए, तो नज़रें चुरा लेंगे, कि कहीं नज़रें मिल न जाए, नहीं तो सिर झुकाना पड़ जाएगा। यह भी मुश्किल पड़ेगी कि इतना भारी वज़नदार सिर, इसे नीचा करना पड़ेगा। तो लोग पहले से ही नज़रें घुमा लेते हैं, कि 'महाराज जी! हमने तो आपको देखा ही नहीं।' 'महाराज जी, आप मिले थे मुझको ? आपने मुझे देखा था ? मैंने तो नहीं देखा आपको।' ऐसे अजनबी बन जाएँगे, अनजान बन जाएँगे कि नज़र न पड़े तो बढ़िया। लेकिन कोई सुन्दर दृश्य दिखाई दे जाए, कोई सुन्दर स्त्री चलती हुई दिखाई दे जाए, कोई सुन्दर पुरुष चलता हुआ दिखाई दे जाए-तब ऐसा हो ही नहीं सकता कि हम न देखें। हमारी नज़रें जिनको देख रही है, उनकी परिक्रमा भी कर रही है। नज़रें जिनको चाह रही है, उनकी परिक्रमा कर रही है। जिसे नज़रों ने प्रिय समझ लिया है, उसकी परिक्रमा जारी है। माँ का चित्त दिन-रात अपने बेटे-बेटी की परिक्रमा करता रहता है, 'बेटा, यह खा ले। बेटा, यह पहन ले। बेटा, अब सो जा। बेटा, अब जग जा, ' ये परिक्रमा माँ की अपने पुत्र के लिए। बड़ा गज़ब का circle है इस संसार का। पति पत्नी की। माँ बेटे की। और बेटा, खिलौने की। हर कोई जिसे प्रिय समझ रहा है, उसकी परिक्रमा कर रहा है। सारा संसार अपने आप में मस्त है। उसे किसी ज्ञान की, किसी दर्शन की, किसी गुरु की आवश्यकता नहीं है। शायद महत्व ही नहीं है उनका।

गुरू का महत्व तब समझ आता है, जब उन्हें कोई बड़ा-सा झटका लगता है। जब झटका लगता है, तब जाग आती है, तब लगता है कि क्या रखा है इस संसार में। जब पूरा ही संसार, सभी लोग स्वार्थी हैं, तो छोड़ो इन्हें, गुरु दरबार में जाओ, ईश्वर की भक्ति में बैठ जाओ। लेकिन वहाँ भी आ जाए, तो क्या ? वहाँ भी जब साधु के पास आना चाहे, किसी मन्दिर-ईश्वर के पास आना चाहे, तो वहाँ भी कमेटी वाले हैं, समाज वाले हैं, सामाजिक संस्थाएँ बनी हुई है और जहाँ भी सामाजिक संस्थाएँ बनी हुई है, वहाँ उन संस्थाओं से जुड़े हुए जो आदमी हैं, वे कैसे हैं ? वे सारे ही आदमी मन से धर्म के प्रति समर्पित हो, ऐसे नहीं है। वे लोग वहाँ पर भी अपने पद के लिए, अपने यश के लिए, अपने गौरव के

लिए, अपने अभिमान के पोषण के लिए आ रहे हैं और जब वे वहाँ पर भी अपने अभिमान के पोषण के लिए आते हैं, तब वे उन संस्थाओं को भी दूषित कर देते हैं, संस्थाओं को भी विकृत बना देते हैं। ऐसे में जब कोई भोला-भाला प्राणी धर्म की इच्छा से उस संस्था में प्रवेश करता है, तो वह देखता है कि इन संस्थाओं में बाहर से इतना सौन्दर्य भरा है लेकिन अन्दर विकार भरा है। यह देखते ही वह वहाँ से भाग छूटता है। वह पीछे लौट जाता है। जो 'सत्य' है, उस मार्ग पर अनेकों काँटे बिखरे पड़े हैं, एक-आध काँटा कभी उसको चुभ जाए तो फिर वह उस मार्ग पर जाने का नाम नहीं लेता।

यह विषमता, ये विसंगतियाँ, यह भयानकता हर युग में रही है, आज भी है और आगे भी रहेगी। इसीलिए कहा कि हर कोई नहीं बढ़ सकता, कोई शूरवीर या जिज्ञासु होगा, कोई भक्त होगा या कोई शिष्य होगा जो इन सारी बाधाओं की तरफ दृष्टि ही नहीं डालेगा। वह इन विकारों की तरफ दृष्टि ही नहीं डालेगा। वह इन अव्यवस्थाओं, दुर्व्यवस्थाओं, विषमताओं को अपनी नज़र में ही नहीं लाएगा। वह कहेगा, मैं इसके लिये यहाँ आया ही नहीं था। मुझे कोई लेना-देना नहीं, इस संस्था में कौन झगड़ता है, कौन लड़ता है, कौन रोता है, कौन हँसता है, किसके पास पैसा है, किसके पास पैसा नहीं है- मुझे किसी से कोई प्रयोजन नहीं, मुझे प्रयोजन केवल महावीर से है। मुझे प्रयोजन केवल गुरुदेव से है, मुझे प्रयोजन केवल महावीर की वाणी से, गुरु की वाणी से, गुरु के ज्ञान से, दर्शन से और गुरु सेवा से है। बस, जो अपने लक्ष्य के प्रति इतना जागृत रह सकता है, अपने लक्ष्य के प्रति इतना सजग रह सकता है, एकमात्र वही व्यक्ति अंतर्यात्रा कर सकता है।

आचारांग सूत्र कहता है कि 'यह मार्ग कायरों का नहीं, यह मार्ग वीरों का है।

'पणया वीरा महावीहिं'

यह मार्ग केवल उनका है जो अपने भीतर अपने लक्ष्य को ही जगाए रखते हैं। लक्ष्य की लौ जिनके भीतर सतत प्रज्ज्वलित रहती है, केवल उनके लिए यह मार्ग है, बाकी तो हर मार्ग में फिसलन है, हर मार्ग में भटकन है, हर मार्ग में वही थपेड़े हैं, उतार है, चढ़ाव है, राग है, द्वेष है। इसीलिये धर्म के तत्व तक पहुँच पाना भी कोई आसान बात नहीं है। ज्ञानी गुरु के गुरुत्व को समझ

पाना भी कोई आसान बात नहीं है क्योंकि हमें बाहरी रुप देखने की आदत पड़ी हुई है, बाहर के रंग देखने की आदत पड़ी हुई है। आम व्यक्ति केवल प्रदर्शन से व नारों से प्रभावित होकर चलता है। जबकि नारे देने वाला सदैव अज्ञानी ही होता है। ज्ञानी ने समाज को कभी कोई नारा नहीं दिया। जो भी नारे देने वाले हैं, वे अज्ञानी ही हैं। आम व्यक्ति कर्मकाण्डों से, लच्छेदार बातों से व नारों से प्रभावित हो कर चलता है। वादों और विवादों से प्रभावित होकर चलता है। बड़ी-बड़ी बातों से प्रभावित हो कर चलता है; इसीलिए धर्म के सरल व गुह्य तत्व तक सीधी यात्रा करने के लिये जिसका हौसला हो, जिसका समर्पण हो, जिसका लक्ष्य हो, केवल वही व्यक्ति इस मार्ग पर सीधा चल पाता है, आगे बढ़ पाता है। बाकी सारे लोग तो पहली सीढ़ी या दूसरी सीढ़ी तक आकर ही वापस लौट जाते हैं। हालाँकि जहाँ जाते हैं, वहाँ भी उन्हें दुःख ही मिलता है। क्यों? क्योंकि वे अपनी नज़रों को Purify नहीं कर पाते। वे अपनी नज़रों में केवल अपने लक्ष्य को नहीं बसाते, मार्ग भी देखते हैं। मार्ग में जगह-जगह पर दृष्टि गड़ा लेते हैं।

यदि कोई भूखा व्यक्ति रास्ते से गुज़रे तो उसे केवल हलवाई की दुकान ही दिखलाई पड़ती है, बाकी दुकानें दिखलाई ही नहीं पड़ती। जबकि जिसका पेट भरा है, ऐसा व्यक्ति रास्ते से निकले तो उसे हलवाई की दुकान का ख्याल भी नहीं आता। इसी प्रकार, अगर हम धर्म के लिए इस धर्म क्षेत्र में आए हैं लेकिन हमें राग-द्वेष दिखलाई पड़ रहे हैं, तो समझना कि अभी धर्म की प्यास गहरी नहीं है। अगर धर्म की प्यास गहरी होती तो मार्ग में चाहे सौ लोग लड़ रहे होते, चाहे सौ लोग बातें कर रहे होते, चाहे सौ लोग गा-बजा रहे होते, बहस कर रहे होते; मगर हमें दिखलाई नहीं पड़ते। वे हमारे दृष्टि पथ पर नहीं बसते।

'ग़र धर्म की भूख गहरी होती, गुरु के प्रति समर्पण गहरा होता, अगर महावीर-वाणी से अटूट् प्रेम होता तो हमें केवल महावीर की वाणी दिखलाई पड़ती, बाकी दुनियादारी, झूठ-प्रपंच की दुकानदारी दिखलाई नहीं पड़ती। लेकिन यहाँ तो जिसे देखो, जहाँ देखो, जिससे पूछो, हर जगह यही फसाना है। हर कोई दुःख लादे फिर रहा है, दुःखों की बातें करता है; और फिर कहता है कि कहाँ है सुख? कहाँ है शान्ति? कहाँ है आनन्द?

कैसे हो सकता है आनन्द? हो भी कैसे सकता है? पहले अपनी नज़रों

से दूसरी सारी चीज़ों को तो हटाओ। अगर शान्ति चाहिए, तो शान्ति को देखो। आनन्द चाहिए, तो आनन्द को देखो। ज्ञान चाहिये तो मात्र ज्ञान को देखो। महावीर की वाणी चाहिए, तो केवल महावीर की वाणी को देखो। इसके सिवाय देखना बन्द कर दो। अनावश्यक को, निरर्थक को सोचना बन्द कर दो। दूसरी बातों के लिये अन्धे हो जाओ। कहा है किसी ने कि-

''देखे को अनदेखा कर रे, अनदेखे को देखा।''

कुछ बातें हैं जिन्हें देख कर भी अनदेखा करना सीखो और मात्र अनदेखे को देखने के लिए जागृत रहो। स्वयं से कहो 'जो जीवन का परम इष्ट है, परम सौन्दर्य है, परम स्वरुप है, उसे मैंने अब तक नहीं देखा। अब मेरी आँखें केवल उसे ही देखेगी। बाकी जितने विकार राह में आएँगे, उन्हें मेरी आँखें देखेगी ही नहीं।' एक अच्छा सारथी, जो रथ को चलाता है या घुड़सवार, जो घोड़े को चलाता है, घोड़ों को रथ में बाँध कर चलाता है, वह घोड़ों के दोनों ओर आँखों पर पट्टी बाँध देता है; देखा होगा आपने। घोड़ों की आँखों के दोनों ओर चमड़े का एक जीन बना हुआ होता है ताकि घोड़ा केवल सामने देखे, दाएँ-बाएँ न देखे। वह सीधा देखे, तो सारथी घोड़ों को हाँक सकता है, रथ को चला सकता है। अगर घोड़ा इधर-उधर देखने लग जाए तो फिर भले सारथी लाख चाबुक मारे, घोड़ा नहीं चलने वाला क्योंकि उसे तो जहाँ घास दिखी, वहाँ रुक जाएगा। जहाँ खाने का पदार्थ दिखा, वहीं ठहर जाएगा।

चलना सीखें-पुढ़ो पास

हम लोग कैसे चलते हैं? दाएँ-बाएँ ताक-झाँक करते हुए चलते हैं या मात्र सामने देखकर चलते हैं? लोग कहते हैं, दाएँ-बाएँ देखकर चलना पड़ता है। सीधा देखकर तो चला ही नहीं जाएगा। दाएँ-बाएँ तो देखना ही पड़ेगा। नहीं! नियम यह है कि जो व्यक्ति सीधा देखता है, दाएँ-बाएँ का ज्ञान स्वतः उसके भीतर आ जाएगा; इसी को 'ईर्या समिति' कहा है भगवान महावीर ने। केवल सीधा देख कर चलो। युग प्रमाण ज़मीन देख कर चलो।

आयारो के प्रथम अध्ययन का एक महत्वपूर्ण सूत्र है-'पुढ़ो पास।' अर्थात् सामने देखो। मात्र आगे देखो। तब आपकी आँखों में एक विशेषता पैदा हो जाएगी। आपका दृष्टि विन्यास इतना विस्तृत हो जाएगा कि दाएँ-बाएँ की

घटनाएँ स्वतः नज़र आएगी; लेकिन सीधा देखने की वजह से आप उनसे प्रभावित नहीं होओगे। यदि दाएँ-बाएँ देखते हुए चलोगे तो वहाँ से प्रभावित होते रहोगे और अपनी यात्रा आगे नहीं बढ़ा पाओगे। इसीलिए प्रभु महावीर का दर्शन बड़ा गहरा दर्शन है। वह सम्यग्दृष्टि से चलने की कला सिखाता है।

जब आप अपने बच्चों को Driving Rules सिखाते हो, तो एक ही बात कहते हो कि 'बेटा, हमेशा सीधा देखना।' जब हम पहली बार साईकिल चलाना सीख रहे थे तब हमें भी सिखाने वालों ने यही कहा था, कि बस सामने देखो। पैर पैडल पर, हाथ हैंडल पर और नज़र सीधी। इसके अलावा और कुछ करना ही नहीं, साईकिल चलानी आ जाएगी। जो ड्राइविंग कर रहा है, उसकी नज़र सीधी होनी चाहिए। वो टेढ़ा-मेढ़ा देखेगा तो एक्सिडेन्ट कर बैठेगा। सीधा देखेगा, तो अपने आप से पता चलेगा, कि गाड़ी कहाँ से आ रही है और कैसे निकालनी है। यही तरीका है। यही सही रास्ता है, हर यात्रा का-चाहे वह संसार की हो या अध्यात्म की यानि अपने अन्तर् की। हर जगह की यात्रा ऐसे ही करनी है। सीधा देखो, आस-पास अनेकों घटनाएँ घट रही है, उन्हें मत देखो, मत सुनो। उनमें मत उलझो। चित्त को इष्ट-गुरू के गुणों पर केन्द्रित करो।

'देखे को अनदेखा कर रे, अनदेखे को देखा।'

सुने को भी अनसुना करना सीखो और जो अनसुना है, उस परम ध्वनि को सुनना सीखो। तब साधक के भीतर अपने लक्ष्य के प्रति आराधना का भाव, पूजा का भाव, कीर्तन का भाव, वन्दना का भाव जगेगा; और वह भाव जगेगा, तो परिक्रमा होगी। अगर वह भाव ही नहीं जगेगा, तो लक्ष्य की परिक्रमा कैसे होगी ? भुला दी हम लोगों ने परिक्रमा की विधि। हम लक्ष्य की परिक्रमा करते ही नहीं। हम भूल गए अपने लक्ष्य को, अपने गुरु को। अब स्थानकवासी आम्नाय में तो न गुरु करवाते हैं परिक्रमा और न ही शिष्य करते हैं। परिक्रमा के स्थान पर मात्र अपने हाथों को अपने ही मस्तक के चारों ओर घूमाने का रिवाज़ प्रचलित है। जबकि हमारे पास उपलब्ध सूत्रों में परिक्रमा-प्रदक्षिणा का उल्लेख मिलता है। हम सभी गुरू वंदना करते हुए 'तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं' ऐसा बोलते भी हैं।

सूत्रों को निष्पक्ष शोध भाव से पढ़ो तो स्पष्ट हो जाएगा कि 'तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि...' ये चारों पद बोलने के नहीं है, वरन् गुरू की

आदक्षिण-प्रदक्षिणा करने के सूचक पद है। सूत्रों में लिखा है 'तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेई करित्ता वंदइ नमंसइ जाव पज्जुवासइ।' अर्थात् उन्होंने तिक्खुत्तो-तीन बार, आयाहिणं-दाहिनी ओर से (clockwise), पयाहिणं-प्रदक्षिणा, करेइ यानि की और करित्ता वंदइ णमंसइ सक्कारेइ सम्माणेइ जाव पज्जुवासेइ अर्थात् करने के बाद वंदन-नमन किया, गुरू का सत्कार-सम्मान किया और गुरू को वंदना-नमस्कार करते हुए यावत् पर्युपासना की।

यह परिक्रमा करने का सूत्र पाठ है, इस पाठ में यह बताया गया है कि उन्होंने तीन बार परिक्रमा-प्रदक्षिणा की; न कि यह कहा गया है कि हम इस बात को, इस पाठ को बोलें। ये सूत्र पद करणानुयोग है। की जा रही क्रिया की सूचना दे रहे हैं, किन्तु हम इन पदों का दोहरान मात्र करके स्वयं को संतुष्ट कर लेते हैं। हाँ, यह अवश्य जान लेना चाहिए कि परिक्रमा-प्रदक्षिणा जिसे आप गुरू रूप स्वीकारते हो, जिसके प्रति विनय, श्रद्धा व समर्पण भाव से झुकते हो, उसी की होती है। सभी साधु वंदनीय तो है, नमस्करणीय भी है किन्तु प्रदक्षिणा-परिक्रमा गुरू-पद की करो।

अगर हमें अपने भीतर यह लगे कि 'गुरु' गुरु है; तो 'गुरु' की परिक्रमा करें। और यदि आपके लिए 'गुरु' गुरु नहीं है, तो परिक्रमा मत करना। क्योंकि नियम यही है कि गुरु की परिक्रमा वही करे, जिसे लगे कि यह गुरू 'गुरू' है। जिसे लगे कि यह साधु अथवा साध्वी अभी निर्द्वन्द्व नहीं हुए हैं, स्वयं राग-द्वेष, सांप्रदायिक मोह व अन्धानुकरण की प्रवृत्ति से उपरत नहीं हुए हैं, ये गुरू वेश में तो है किन्तु प्रतिवेशित (Uniformed) मात्र है, भीतर निर्ग्रन्थता घटित नहीं हुई है, ये गुरु 'गुरु' नहीं है, तो वह गुरु की परिक्रमा न करे। लेकिन अगर भीतर भाव जगे तो परिक्रमा अवश्य करे, ताकि वह शिष्य भी 'गुरु' के लेश्या वलय में आ सके और अपने कल्याण को उपलब्ध हो सके।

ॐ शान्ति! ॐ शान्ति! ॐ शान्ति!!

गुरू के पाँव में रहूँ

मुझे मिला चरण का लाभ, गुरू के पाँव में रहूँ।
गुरू पकड़ लिया मेरा हाथ, छत्तर छाँव में रहूँ।।
गुरू के पाँव में रहूँ।। टेर।।

सत्गुरूवर की शरण सुहानी, निश्चय तीरथ रूप।
गंगा यमुना घाट बने घट, डुबकी मारूँ खूब।।
भक्ति भाव में बहूँ, गुरू के पाँव में रहूँ।।1।।

दिव्य देव सब खुद में राचे, मेरा क्या कल्याण।
उंगली थामे पकड़ चलाए, सत्गुरूवर चिद्रुप।।
समकित गाँव में रहूँ, गुरू के पाँव में रहूँ।।2।।

अब तक भटका जग में अटका, अब क्यूँ भटकूँ नाथ।
मुझ बालक को पार करा दो, यह भवसागर कूप।।
नैश्रय नाव में रहूँ, गुरू के पाँव में रहूँ।।3।।

कोटि जनम के पुण्य उदय से, मिली भव्य गुरू टेक।
कदम-कदम पर जो चेताए, वह गुरू कृपा अनूप।।
अभय के ठाँव में रहूँ, गुरू के पाँव में रहूँ।।4।।

कैसे आएँ गुरु दर पर... ?

अनेकान्त सृष्टि में निरपेक्ष आनन्द मनाने वाले आप्त पुरुष एवं उनकी आगम वाणी को भाव वन्दन। भव्य आत्माओं की भव्यता को प्रणाम।

जो पर्युपासक उपासना करने के लिए गुरु द्वार में प्रविष्ट होता है, वह उपासक गुरु द्वार में आने के साथ ही अपने भीतर से सारे बाहरी यानि दुनियावी विचारों को छोड़ कर ही आता है। जीवन का एक प्राकृत नियम है कि किसी व्यक्ति को अगर एक कदम आगे बढ़ाना है तो उसका पिछला कदम उस पिछले स्थान से हटता चला जाए तभी वह एक कदम आगे बढ़ा पाएगा। यदि वह सोचे कि मैं एक कदम आगे बढ़ाऊँ लेकिन पिछला कदम जहाँ है, वहीं पर टिका कर रखूँ, उसे उठने न दूँ; तो वह अपना एक भी कदम आगे नहीं बढ़ा सकता। हर एक कदम बढ़ने के साथ दूसरा कदम भी गति करता है। हर एक स्थान छोड़ने के साथ दूसरे स्थान में प्रवेश होता है और दूसरे स्थान में प्रवेश होने के साथ ही पहला स्थान छूटता चला जाता है। जो लोग छोड़ना जानते हैं, वे लोग खुशनसीब हैं। वे लोग खुशनसीब हैं, जो छोड़ना जानते हैं। वे लोग बदनसीब हैं, जो अपने पिछले कदमों को, पिछली राहों को, पिछले स्थानों को छोड़ना नहीं जानते। उनसे चिपके रहते हैं, मोह में या शोक में डूबे रहते हैं।

जीवन एक गति है। कभी न रुकने वाली गति। और इस कभी न रुकने वाली गति में वे लोग ही जीवन्त रह पाते हैं, जो सतत गतिशील बने रहते हैं। जो पिछले का मोह छोड़ते चले जाते हैं, वे लोग ही जीवन्त हैं। अन्यथा लोग जीते तो हैं किन्तु जीवन्त नहीं होते। उन लोगों को देखो कभी, जो अतीत में भटके हुए हैं अथवा ख्याली पुलावों में खोए हुए हैं, वे बड़े दुःख के मारे हैं। बेचारे हैं। उनके मुख से सदा आह निकला करती है। उनके पास जाओ। उनकी बातें सुनो। उनके पास बैठो तो पता लगेगा कि इनकी आँखें पथरा-सी गयी है। मानो, वे ज़िन्दगी से बहुत दुःखी हो चुके हैं, बहुत उदास हो चुके हैं। इसका मतलब है कि वे लोग जी तो रहे हैं, उम्र तो उनकी कट ही रही है लेकिन उनके भीतर कोई चेतना, कोई जीवन्तता नहीं है। उनके प्राणों में कोई संगीत नहीं गूँज रहा। ज़िन्दा तो वे हैं

लेकिन जीते नहीं, मृतवत् अपने जीवन को घसीट रहे हैं। क्यों ? क्यों है, वे इतने दुःखी ? बात करो, पता लगेगा, वे दुःखी इसलिए हैं क्योंकि आज से कुछ वर्षों पूर्व उनका जवान बेटा मर गया था। कुछ वर्षों पूर्व किसी का पति छोड़ चला, किसी की पत्नी चल बसी, किसी का व्यापार चौपट हो गया था, और उन्हें अपना गाँव छोड़कर दूसरे गाँव आना पड़ा था। किसी की ज़िन्दगी का सहारा-उसके माता-पिता, किसी दुर्घटना में काल कवलित हो गए थे। घटनाएँ ज़िन्दगी में बहुत हुई, सबके साथ होती होगी, किसी के साथ किसी समय, किसी के साथ किसी पड़ाव में। ज़िन्दगी के किस पड़ाव में, कैसी घटना, किस के साथ, कब घटेगी, किसी को नहीं पता। लेकिन, जो लोग उन घटनाओं को अपने दिल में संजोकर, इकट्ठा कर के रख लेते हैं, घटनाओं से बाहर आते ही नहीं, उसके प्रभाव को छोड़ ही नहीं पाते, वे लोग फिर जीवन्त नहीं रहते। वे लोग मुर्दे की तरह अपनी ज़िन्दगी घसीटते हैं। इसीलिए हमने कहा, कि खुशनसीब हैं वे लोग, जो छोड़ना जानते हैं। बदनसीब हैं वे लोग, जो मात्र यादों व कल्पनाओं को पकड़े बैठे हैं। मात्र पकड़े हुए बैठे रहते हैं।

गुरु के द्वार पर आना है, तो पहली शर्त है कि अपना अगला-पिछला छोड़कर आओ। पीछे से असंपृक्त चित्त के साथ आओ। अगर आप का चित्त पीछे ही छूटा पड़ा है और आप केवल शरीर से यहाँ आए हो, तो ऐसी स्थिति के लिए कबीरदास जी कहते हैं-

मन दिया संसार में, तन साधन के संग।
कहे कबीर कैसे चढ़े, कोरी गजी को रंग।।

उसको रंग कैसे चढ़ेगा ? उसे महावीर की वाणी कहाँ समझ में आयेगी ? वो वाणी उसे छू भी नहीं पाएगी। उसे गुरु का अतिशय कभी महसूस नहीं हो सकेगा क्योंकि उसका मन संसार में है और तन यहाँ है।

'संजोगा विप्पमुक्कस्स'

उत्तराध्ययन सूत्र के 'विनयश्रुत' नाम के पहले अध्याय के पहले ही पद में कहा कि 'संयोगों से विप्रमुक्त है जो, उसे गुरू का ज्ञान मिल सकता है।' इसीलिए गुरू के दर पर आने का पहला अभिगम है-सचित्त का त्याग यानि कि जब आओ तो अपने सारे सांसारिक चित्तों को, सारे विषयों को, सारे अतीत को बाहर ही छोड़कर, हटा कर, संकल्पपूर्वक उनका त्याग करके, फिर अन्दर

आओ। जहाँ जूते खोलो, वहाँ पर दो क्षण के लिए ठहरो। जूते खोलने के साथ ही ठहरो। ठहर कर तीन बार अपनी श्वास को तीव्र वेग से शरीर से बाहर निकालो। ज़ोर से श्वास भरो, पूरी श्वास भरो और फिर ज़ोर से बाहर निकालो। दीर्घश्वास बाहर निकालो, जितनी ज़ोर से आप निकाल सकते हो और जैसे ही श्वास बाहर निकले, वैसे ही बोलो-''निस्सीही''। ये तीन अक्षर बड़े महत्वपूर्ण हैं। 'निस्सीही' एक शब्द है, साढ़े तीन अक्षर का। इस शब्द का अर्थ है-निःसृत हो, निकल जाओ, निषेधित हो (Prohibition)। सारे प्रपंचों को मैं अपने अंदर से रिक्त होने का आदेश देता हूँ।

'निस्सीहि'-एक श्वास के साथ बोलो। दूसरी श्वास के साथ फिर बोलो। तीसरी श्वास के साथ फिर बोलो। जब श्वास छूट रही हो, तब बोलना 'निस्सीहि'। श्वास ले रहे हो, भर रहे हो तब कुछ नहीं बोलना। जब दीर्घ श्वास छोड़ रहे हो, तब बोलना है 'निस्सीहि।' ठहर-ठहर कर। कोई उतावली नहीं है। उतावल में मत आओ। आतुरता में मत आओ। वहीं ठहरो क्योंकि ज़िन्दगी का हर क्षण महत्वपूर्ण है। किसी महत्वपूर्ण काम के लिये कोई व्यक्ति जा रहा हो और जाते वक्त अगर वह बहुत ज्यादा आकुल-व्याकुल है, व्यग्र है, उतावला है, तो वह जिस महत्वपूर्ण काम के लिए जा रहा है, वह काम भी उसका सिद्ध नहीं हो पाता।

कई बार ऐसा होता है रेलगाड़ी छूट रही है, आप फटाफट अपने घर से बाहर निकल रहे हो, और बाहर निकल कर चले तो जाते हो, लेकिन अपने ब्रीफकेस को लॉक करके जो चाबी पलंग पर रखी थी, वहीं भूल गए। ब्रीफकेस ले आए और चाबी वहीं छोड़ आए पलंग पर। तब तो स्टेशन पहुँचने की जल्दी थी। फिर याद आता है कि यह क्या हो गया? महत्वपूर्ण कागज़ जिस ब्रीफकेस में लेकर जा रहा हूँ, उसकी चाबी तो मैं वहीं छोड़ आया हूँ। अपना सेलफोन तो वहीं छोड़ आया। इतनी बड़ी अगर भूल हो गई है तो आगे कैसे जाओगे? इसीलिए कहा है कि एक क्षण ठहरो। कहीं जाना है तो उससे पहले जाने की तैयारी पूरी करो। अगर जाने की तैयारी पूरी नहीं है तो कई बार तो जाना सार्थक होने की बजाय निरर्थक हो जायेगा।

यात्रा पर निकलने से पहले यात्रा की तैयारी में व्यक्ति को बहुत सजग रहना होता है। हाँ, एक बार गाड़ी पर सवार हो जाए, फिर निश्चिन्त हो सकता

है। लेकिन जब तक गाड़ी में सवार नहीं हुआ है, तब तक निश्चिन्तता का कोई उपाय नहीं है। तब तक पूरा सजग होकर, सारे काम को चौकन्ना होकर देखना पड़ेगा कि सेलफोन साथ में लिया है? कहीं चाबी भूल तो नहीं गया? कहीं कोई ज़रुरी सामान रखना भूल तो नहीं गया। जिससे मिलने जाना है, कही उसका विज़िटिंग कार्ड लाना तो नहीं भूल गया। क्योंकि कई बार ऐसी भूलें हो जाती है, जिससे मिलने जाना है, उसके लिए घर से निकल पड़े, और उसका visiting card साथ में लाना भूल गए। अब क्या करो? यहाँ-वहाँ घूम-फिर कर, लौट कर बुद्धू घर को आए। इसलिए तैयारी बड़ी महत्वपूर्ण है। इसी तरह से, स्थानक में प्रवेश करना, मन्दिर में प्रवेश करना, गुरुद्वारे में प्रवेश करना हो तो तैयारी बहुत महत्वपूर्ण है। घर से भी निकलो तो अपने साजो-सामान, जिसकी आवश्यकता होगी, वो लेकर निकलो। जिसकी आवश्यकता नहीं होगी, उसे घर पर ही छोड़कर निकलो। यहाँ पर जिसकी ज़रुरत नहीं है, उसे मत लेकर आओ क्योंकि जो गैर-ज़रुरत का ले आए हो, वो आपका ध्यान अपनी ओर खींचेगा।

लोग कई बार भूल कर देते हैं-मन्दिर, उपासरे, स्थानक में जा रहे हैं और हज़ारों रुपए अपनी जेब में लेकर चले जाते हैं। बड़े सुन्दर गहने पहन कर चले जाते हैं। सुन्दर श्रृंगार करके चले जाते हैं। कीमती वस्त्र धारण करके चले जाते हैं, और तब वहाँ जाकर भी उन्हें इस बात का ही ख्याल रहता है कि कहीं मेरा पल्लू इधर-उधर न लग जाए, कहीं गन्दा न हो जाए। कहीं मेरे ज़ेवर असुरक्षित न हो जाए। कोई मेरी जेब से नोट न निकाल ले। अब देखो, गैर-ज़रुरत का सामान ले आए हो, तो वो गैर-ज़रुरत का सामान निरन्तर आपकी चेतना को disturb कर रहा है, आपका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। इसीलिये जो गैर-ज़रुरत की चीज़ें हैं, वे वहीं छोड़कर आओ। नहीं तो यहाँ आकर भी यहाँ नहीं रह पाओगे।

आपको पता है.....मन्दिर या गुरुद्वारे में जब प्रवेश करते हैं तो पहले पैरों को धुलाया जाता है। पहले पैर धोकर, हाथ धोकर फिर अन्दर जाओ। ये सारी क्रियाएँ क्यों है? इसलिये है ताकि बाहर की मिट्‌टी, संसार की मिट्‌टी, और उस मिट्‌टी के साथ रहे हुए संसार के तुम्हारे चित्त-वे बाहर ही विसर्जित हो जाए। बाहर ही छूट जाए। वरना तुम यहाँ आकर इस स्थान को प्रदूषित कर

दोगे। कोई व्यक्ति अविधि से आ गया है तो वह पूरे स्थान को प्रदूषित कर देगा और उस प्रदूषण का पाप उस व्यक्ति को लगेगा। क्योंकि अगर कोई पवित्र स्थल प्रदूषित होता है तो उस पवित्र स्थल पर जितने उपासक उपासना कर रहे हैं, उनकी उपासनाओं में जो विघ्न पड़ता है, उस पूरे विघ्न के, अन्तराय का दोष उस व्यक्ति को लग रहा है जो प्रदूषण फैला रहा है। प्रदूषण न फैले, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को सजग रहना ज़रुरी है कि वह जब आए तो आने से पहले अपने जूते खोले। जूते खोलने के साथ ही अपने भावों की, विचारों की शुद्धि करे।

भाव शुद्धि करने के लिये मंत्र दिया प्रभु ने-निस्सीहि। 'निस्सीहि' मंत्र का मतलब होता है-No Entry, निषेध करता हूँ। No Entry for Unnecessary thoughts and things. ''मैं निषेध करता हूँ, अनावश्यक प्रपंचों का।'' अनावश्यक प्रपंच जो दिमाग में चलते रहते हैं-कितने प्रपंच चलते हैं दिमाग में....! व्यर्थ की कल्पनाएँ, व्यर्थ की जल्पनाएँ..... हमारा मस्तिष्क निरन्तर किया करता है-उन सबको द्वार पर छोड़कर फिर आना। सारी चिन्ताओं को द्वार पर छोड़ कर फिर आना। सारे सांसारिक विषय-विकारों को, सारी इच्छाओं को, तमन्नाओं को, हसरतों को, सब को बाहर छोड़कर आना। और सबसे महत्वपूर्ण बात-'मैं हूँ' यह अहंकार भी बाहर छोड़ कर आना। यदि अहंकार के साथ आ गए तो यहाँ जो नमन होगा, वह भगवान को न होकर अपने दिमाग को ही नमन हो जाएगा। इसलिए प्रवेश करने का सूत्र होता है कि जहाँ जूते खोलो, वहाँ अपने दिमाग के दाँव-पेंच भी खोल कर रख आओ। यदि दिमाग के दाँव-पेंच साथ लेकर आ गए तो यहाँ आने का कोई औचित्य नहीं रहेगा, कोई फायदा नहीं रहेगा। दिमाग सबके पास है, लेकिन यह एक स्थान है जहाँ दिमाग की अटकलों की ज़रुरत नहीं है; यहाँ दिल की, भावनाओं की ज़रुरत है। कहा भी है किसी शायर ने कि-

'तर्क़ कर ख़ुद की ख़ुदी
तुझको ख़ुदा मिल जाएगा।'

दिमाग की ज़रुरत केवल दुनिया में पैसा कमाने के लिए होती है। दुनिया में अपनी सुविधाएँ पाने के लिए, प्रतिस्पर्धा में जीतने के लिए दिमाग की ज़रुरत है लेकिन अध्यात्म की यात्रा में यह दिमाग बाधक है; इसलिए मस्तिष्क को 'निस्सीहि' करना आवश्यक है, यह प्रथम चरण है। मैं, मेरी मान्यता, मेरी

सोच, मेरा आग्रह, मेरी बात, मेरा वाद, मेरा धर्म, मेरा पन्थ, मेरा सम्प्रदाय–यह 'मैं और मेरा' जहाँ–जहाँ जुड़ा हुआ है, अगर वह सारी पकड़ छोड़कर जाओगे गुरु–दरबार में, तो ही गुरु का अतिशय अनुभव होगा, तो ही प्रभु का अतिशय अनुभव होगा।

प्रभु महावीर के द्वार पर भी ऐसे लोग आ जाते हैं जो 'मैं' और 'मेरा' छोड़कर नहीं आते, तो महावीर की वाणी उनके कानों में भले जाए, उनके प्राणों में कभी नहीं जाती। कभी नहीं जा सकती। वे लोग महावीर में कभी प्रभु को, ईश्वर को, परमात्मा को, तीर्थंकर को, वीतराग को अनुभव ही नहीं कर पाते। वे महावीर को भी अपने ही ख्यालों के अनुसार आँकेंगे, एक साधारण व्यक्ति, एक साधारण देह–बस इतना ही देखेंगे, इससे ज्यादा नहीं। इसीलिये कहा है,

पहला अभिगम–'सचित्त का त्याग करो।'

सचित्त का अर्थ प्राय: जीवयुक्त फल–फूल–शाक–भाजी या ऐसा ही कोई पदार्थ लिया जाता है, जिसमें जीवन हो। किन्तु जीवनयुक्त को 'सजीव' कहते हैं। परमात्मा महावीर ने यहाँ सजीव नहीं 'सचित्त' शब्द दिया है। सचित्त यानि जिसमें चित्त रहा हुआ है, वह पदार्थ जीवयुक्त हो अथवा जीव रहित, अगर हमारा चित्त उसमें अटका हुआ है, तो वह सचित्त है। जैसे हमारे परिजन, अधिकृत परिग्रह, सोना–चाँदी इत्यादि या कोई भी प्रिय–मनोज्ञ पदार्थ या विषय–वस्तु।

इसके साथ ही जुड़ा है दूसरा अभिगम, 'अचित्त का विवेक करो'। अनावश्यक का भी त्याग करके आओ। ग़ैर–ज़रुरत को भी त्याग कर आओ अन्यथा वो भी आपको अपनी ओर आकर्षित करता रहेगा, आपके चित्त को डोलायमान करता रहेगा। जो अचित्त है, अर्थात् जिसमें आपका कोई चित्त अटका हुआ नहीं है किन्तु उसे अविवेकी तरीके से रखा गया है, ओढ़ा या पहना गया है, असावधानी से अव्यवस्थित कर दिया गया है तो उसके प्रति भी विवेकपूर्ण बनो। चाहे वे उपाश्रय के प्रवेशद्वार पर उतार कर रखे गए जूते ही क्यों न हो। वे भी व्यवस्थित तरीके से रखे जाएँ, यह ज़रूरी है। यह अचित्त पदार्थों का विवेक दूसरा अभिगम है।

लेकिन विचित्र बात यह है कि जब आदमी स्वयं तो अनावश्यक का

त्याग करे, अचित्त का विवेक करे किन्तु उसका साथी न करे, तब क्या होता है? गोया, आपने तो अपने जूते व्यवस्थित रूप से उतारे लेकिन किसी और ने अगर व्यवस्थित रूप से जूते नहीं उतारे, तब आप क्या करोगे..? क्या करोगे भाईसाहब? उसके जूते उठाओगे और सीधे रखोगे, या ज़ोर से चिल्लाओगे–'ज़रा भी शिष्टता नहीं है तुममें। कैसे आते हो, कहाँ आ रहे हो, कुछ पता रखते हो या नहीं। जूते कैसे खोलते हैं–तुम्हें इतना भी नहीं आता? जब सभी लोग क्रम से जूते उतार रहे हैं, तो तुम क्रम से नहीं उतार सकते क्या? जब सब ऐसे खड़े हैं तो तुम ऐसे क्यों नहीं खड़े हुए? जब सब ऐसे बैठे हैं, तुम ऐसे क्यों नहीं बैठे? सब की यह ड्रेस है, तो तुम्हारी यह ड्रेस क्यों नहीं है?' कर दिया गुस्सा....ये देखो, अहंकार इस रुप में आ गया, कि 'मैं ठीक हूँ तो दूसरों को भी पूरा ठीक होना चाहिए।' पता ही नहीं लगा–अचित्त का विवेक हुआ ही नहीं। सचित्त का त्याग हुआ ही नहीं। आने की तैयारी अभी पूरी नहीं है। फिर भी आ गए।

अभी उनके लिए 'गुरु' महत्वपूर्ण नहीं है, साथ में आने वाले अन्य साधकों के तौर–तरीके महत्वपूर्ण हैं। नज़र पहले उन पर जा रही है, अभी तो गुरु पर नज़र टिकने वाली नहीं है। अगर किसी ने जूते नहीं खोले ढंग से, तो हममें से कौन व्यक्ति ऐसा है, जो जूतों को स्वयं उठाएगा और ढंग से रखकर चुपचाप आ कर बैठ जाएगा। कौन है ऐसा हम में से जो दूसरों के जूते को हाथ लगाएगा और उठाकर ढंग से रख देगा? कोई है? अगर नहीं है, तो अपने भीतर चैक कर लेना कि पूरा–पूरा घमण्ड लेकर तो नहीं जा रहे हैं, उस स्थान पर। घमण्ड एक अंश का भी नहीं छूटा, शतांश भी नहीं छूटा। अगर शतांश भी घमण्ड नहीं छूटा है, तो फिर दोष मत देना गुरुओं को, दोष मत देना धर्म को, दोष मत देना वीतराग वाणी को कि इतनी बार सुन ली, हुआ क्या? कुछ नहीं हो सकता। तब तक नहीं हो सकता, जब तक तुम आने की पूरी तैयारी करके नहीं आए हो।

परीक्षाएँ तो होंगी ही। जिस दिन से तुमने अपने जूते कतार में जमाने शुरु कर दिए, उस दिन से तुम्हें दूसरों के जूते अव्यवस्थित दिखलाई पड़ने शुरु हो जाएँगे और जब तक तुम खुद अव्यवस्थित रखते थे जूतों को, तब तक तुम्हें दूसरों की अव्यवस्था दिखलाई नहीं पड़ी थी। सभी लोग अव्यवस्थित रख रहे

हैं, तुम भी अव्यवस्थित रख रहे हो, तब तक तुम्हें कुछ भी असहज नहीं लगता। जिस दिन से तुमने क्रम से जूते रखने शुरु कर दिए, तुम पंक्ति में बैठना शुरु हो गए, कतारबद्ध होकर वन्दन करने लग गए, सलीके से धैर्यपूर्वक हर कार्य करने लग गए उस दिन से अगर कोई दूसरा व्यक्ति उतावला होगा या गलती करेगा तो सबसे पहले तुम्हारी नज़र वहीं जाने वाली है। क्योंकि अब घमण्ड आ गया, कि मैं ठीक, तो दूसरा ठीक क्यों नहीं ? मैं अगर सही चल रहा हूँ तो दूसरा भी सही चले-यह 'आग्रह' अहंकार का ही लक्षण है।

अगर कोई व्यक्ति कहीं भी, किसी भी बात के लिए आग्रह कर रहा है तो इसका मतलब है कि उसके अन्दर अहंकार बज रहा है। यदि भीतर अहंकार न बजे तो व्यक्ति किसी भी बात के लिए आग्रह न करे। अहंकार का ढोल कैसे-कैसे बजता है, इसका भी पता लगाना बहुत ज़रुरी है।

इसलिए ख्याल करो, कि हम आने की पूरी तैयारी करके विधिपूर्वक, अभिगमपूर्वक आते हैं या नहीं आते। अभिगम का मतलब है-सुन्दरतापूर्वक आना, सुन्दरतापूर्वक ज्ञान प्राप्ति की विधि, जानने की तैयारी। जहाँ जा रहे हो, जहाँ अपना समर्पण करने जा रहे हो, वहाँ मस्तिष्क को बाहर छोड़ कर जाना। उस समय के लिए तुम 'ना-कुछ' हो जाओ। वरना हर वक्त हम 'कुछ स्पेशल' बने रहते हैं। लेकिन उस समय के लिए हम 'ना-कुछ' बनने के लिए तैयार रहें। अगर ना-कुछ बनने के लिये तैयार हो तो समझना 'अचित्त का विवेक' हो गया।

अहंकार का विसर्जन हुआ, तो पूरे संसार के प्रति प्रेम आएगा। कोई गलत भी कर रहा है, तब भी प्रेम आएगा। सोचोगे कि मैं भी पहले ऐसा ही तो था। जब तक मुझे नहीं पता था, तब तक मैं भी तो ऐसी ही गलतियाँ किया करता था। आपको उसके प्रति भी एकात्म-भाव आएगा। जो गलतियाँ कर रहा है, उसके प्रति गुस्सा नहीं आएगा। उसके प्रति द्वेष नहीं आएगा। आपको लगा करेगा कि जब तक मुझे ज्ञान नहीं था, मैं भी तो ऐसा ही था और जब मैं भी ऐसा ही था और यह भी ऐसा है, तो इसमें कौनसी बड़ी बात हो गई ? इसे पता नहीं होगा, कोई बात नहीं, मैं इसकी Help कर देता हूँ। मैं इसके लिये काम कर देता हूँ। ऐसा विचार कर क्या आप उसके लिए व्यवस्था बना दोगे ? क्या आप उसके लिए अपना स्थान छोड़ दोगे ? यदि ऐसा कर पाते हो, तो समझना कि अब

कहीं हल्के हो रहे हो। कहीं खाली स्थान मिल रहा है। जब अपने सामने उपस्थित निमित्त को हम स्थान दे पा रहे हैं, उसे समझ पा रहे हैं, अपने वातावरण को समझ पा रहे हैं, अपने सामने आई हुई परिस्थितियों व घटनाओं को समझ पा रहे हैं, देख पा रहे हैं, अपना विवेक जगा पा रहे हैं; सेवा भाव, सहयोग भाव, दिल में उदारता व प्रेम पनपा है तो ही हम भगवान की वाणी को भी अच्छी तरह से सुन व समझ पाएँगे। तब ही गुरुओं की वाणी भी हमारे भीतर उतर पाएगी, हमारे अन्तर् को प्रकाशित कर पाएगी।

गुरु दर पर कैसे आया जाता है–यह समझना अति आवश्यक है। आप गुरु दर पर आएँ, यह महत्वपूर्ण है लेकिन 'कैसे' आएँ, यह उस से भी ज्यादा महत्वपूर्ण है। आप अपने भीतर से संसार को 'निस्सीहि', निषेधित करके आए या नहीं। अपने अंदर 'गुरु' को बसा कर आ रहे हो या नहीं। घर से निकलते समय ही यदि 'गुरु' मन में बस चुके हैं, हमारे दृष्टि पथ पर आ चुके हैं, अथवा हमारे इष्ट की प्रतिमा हमारे दृष्टि पथ पर आ चुकी है, गुरुद्वारे में विराजमान गुरुग्रन्थ साहिब हमारी दृष्टि पथ पर बस गए हैं; और अब हम उनके पास जा रहे हैं, तो हमारे द्वारा गुरू के दर के लिए उठाया गया हर कदम पूजा है। अपने लक्ष्य को अपने दृष्टिपथ पर पहले ही विराजमान कर, उस लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ हर कदम पूजा है। हर कदम उपासना है। हर कदम साधना है। हर कदम वन्दना है।

वन्दना वहीं से प्रारम्भ हो जाती है, जहाँ से व्यक्ति गुरू वन्दना के भावों से भरकर निकलता है। क्योंकि नियम यह है कि जो चीज़ प्रारम्भ में नहीं है, वह कभी अन्त में नहीं हो सकती। जो चीज़ प्रारम्भ में होगी, वही अन्त में होगी। अगर घर से निकलने के साथ ही वन्दना के भाव में आ गए, वन्दनामय हो गए, तभी यहाँ आते हुए भी वन्दना होगी; और यदि घर से निकलते हुए भी प्रेममय नहीं थे, अपने हृदय मन्दिर में प्रभु को विराजमान नहीं किया हुआ था तो यहाँ आकर भी प्रभु की प्रतिमा में प्रभु के दर्शन हो जाए–यह सम्भव नहीं है। आपकी आँखें प्रभु की प्रतिमा के दर्शन कर रही होगी लेकिन भीतर की आँखें किसी और को ही देख रही होगी। हो सकता है भीतर की आँखें यहाँ आ कर भी शेयर मार्केट के भावों को देख रही हो।

स्थानक व मन्दिर आने वाले कई लोग बड़े विचित्र होते हैं। एक भाई

बता रहा था, 'महासती जी! जब मैं कथा में जाता हूँ तो मेरे लिये कथा बड़ी महत्वपूर्ण होती है।' हमने पूछा, 'ऐसी क्या बात है कि कथा तुम्हारे लिये बड़ा महत्व रखती है।' वे बोले, 'महासती जी! जब मैं प्रवचन सुनता हूँ तो मुझे समझ में आ जाता है कि आज कौनसा figure आने वाला है।' हमने पूछा 'क्या मतलब?' वे बोले, 'कथा में गुरू महाराज जी के मुख से कोई-ना-कोई अंक निकल ही जाता है और बस, जो अंक निकलता है, मैं उसी अंक की लॉटरी खरीद लेता हूँ। क्योंकि महाराज के मुख से निकला हुआ वचन कभी असत्य तो हो नहीं सकता और मेरी लॉटरी लग जाती है।'

देखा आपने, वह जिस लक्ष्य को लेकर आया, उसे वहाँ पर भी वही नज़र आ रहा है। इसी प्रकार, कई लोग कई तरह के लक्ष्य लेकर गुरु के दर पर आते हैं। एक सर्राफ यानि सोने चाँदी का काम करने वाला व्यक्ति कहता है-'महाराज जी, जब प्रवचन में कथा करते हैं तो मुझे समझ में आ जाता है कि मेरा आज का दिन कैसा गुज़रेगा।' हमने पूछा, 'कैसे समझ में आ जाता है कि आज का दिन आपके लिए कैसे निकलेगा?' वह बोला, 'महाराज जी जब कथा करते हैं तो उसमें बता देते हैं कि आज अमुक व्यक्ति ने सोना खरीदा। बस, इतना संकेत काफी होता है कि उसने खरीदा, यानि मैं भी जा कर खरीद लूँ। मैं सोना खरीद लेता हूँ, उसके बाद में सोने के भाव बढ़ते हैं; तो मैं तो पहले ही सोना खरीद चुका होता हूँ, इसलिए profit में रहता हूँ महाराज जी।' अब उसकी नज़र सोने पर है, तो उसे सत्संग व कथा में जाकर भी सोना ही नज़र आएगा। किसी को लॉटरी का figure ही नज़र आएगा। किसी को शेयर मार्केट के भाव ही नज़र आएँगे। तो देखना, जब हम सुनने जाते हैं, तो जो सुनाया जा रहा है हम वह नहीं सुन रहे, हमारा चित्त जिसमें लगा हुआ है, हम वही सुन रहे हैं। हमारा चित्त जिन बातों में रमण कर रहा है, हमें वही सुनाई पड़ेगा, वही दिखलाई पड़ेगा।

एक गाँव में हमारा चातुर्मास था। प्रवचनों के दौरान एक भाई का निरंतर आना शुरू हुआ। गाँव के लोगों ने कहा,'महाराज जी! यह कभी स्थानक न आने वाला व्यक्ति है। अब रोज़ आ रहा है, क्या बात है?' हमने कहा,'अच्छी बात है। जब जागो, तभी सवेरा।' संयोग से, एक दिन वह भाई शाम को दोबारा आया। बातचीत के सिलसिले में उसने कहा, 'मैं कभी स्थानक नहीं आता था लेकिन इस बार से आना शुरू कर दिया है।' हमने कहा, 'क्यों

भाई साहब, इस बार धर्म की याद आ गई क्या?' वह बोला, 'महाराज जी! हम धर्म को कोई भूले थोड़े ही हैं, वह तो हमें याद ही रहता है लेकिन हकीकत बात यह है कि अब मेरी बेटी बड़ी हो गई है।' हमने कहा, 'हाँ तो......।' वह बोला, 'महाराज जी! बेटी बड़ी हो गई है, उसकी शादी करनी है। अगर समाज में उठूँगा-बैठूँगा नहीं, आऊँगा-जाऊँगा नहीं, तो समाज के लोगों से मेरी जान-पहचान कैसे बढ़ेगी? और अगर समाज के लोगों के साथ परिचय नहीं बढ़ा तो बेटी का रिश्ता कैसे होगा?' अब हमें समझ में आया कि वह भाई स्थानक में प्रतिदिन क्यों आने लगा है। तो, कई लोग गुरु-दरबार में ऐसे ही उद्देश्य से आ रहे हैं।

गुरु-दर्शन के लिए आने में भी सबके अपने-अपने प्रयोजन हैं। जिसका उद्देश्य गुरू भक्ति, गुरू सेवा, गुरू का ज्ञान-दर्शन-चरित्र है, वह तो पहले कदम से ही संसार के सारे विषयों को, प्रपंचों को 'निस्सीहि' (निषेधित) कर देता है। अपने इष्ट गुरु को अपने दृष्टिपथ पर बसा लेता है। गुरु-दर्शन की भावना जगने के साथ ही उसके भीतर गुरु के गुणों का गान प्रारंभ हो जाता है। गुरु-द्वार पर आने का संकल्प उठते ही गुरु-वंदन होने लग जाता है।

ऐसी भावदशा में हरेक कदम के साथ उसके करोड़ों पाप नष्ट हो जाते हैं, दर्शन पर आया हुआ आवरण दूर होता जाता है। वीतराग-दर्शन की प्रबल भावना जगने पर व्यक्ति के भीतर स्वतः ही वीतरागता का प्रवाह बहने लग जाता है।

अतः गुरु-दर पर पाँच अभिगम से युक्त होकर ही प्रवेश करना चाहिए। क्या है वे पाँच अभिगम, हम जानें ज़रा.... आज हम दो अभिगम की ही बात कर पाए-पहला सचित्त त्याग और दूसरा अचित्त विवेक। शेष तीन की चर्चा यथावसर । आज इतना ही.....।

ॐ शांति! ॐ शान्ति! ॐ शान्ति!!

गुरू जी! कृपा करो मुझ पर

(पर्युपासना गीत)

कृपा करो मुझ पर, निगंठा! कृपा करो मुझ पर।
चरण आपके नमे ये सेवक, भाव वंदना कर।।
गुरूजी! कृपा करो मुझ पर, निगंठा.... ।। टेर ।।

आँखें दो गुरू देख लूँ, बिना आँख की बात।
चरण धूल ध्युति धन्य है, होवे सत साक्षात्।।1 ।।
गुरूजी! कृपा करो मुझ पर, निगंठा....
युग-युग का प्यासा प्रभो, प्यास बुझे किस रीत।
किस विध जग की कैद से, बनूँ मुक्त बिन भीत।।2 ।।
गुरूजी! कृपा करो मुझ पर, निगंठा...
भ्रमित करे हर मन लहर, भ्रमित करे संसार।
भ्रमणा यह समणा बने, तजूँ विभंग विचार।।3 ।।
गुरूजी! कृपा करो मुझ पर, निगंठा...
छूटे मैंपन मोह तो, पाऊँ समकित नेक।
आगम की वर्षा करो, झीलूँ माथा टेक।।4 ।।
गुरूजी! कृपा करो मुझ पर, निगंठा...
कल्याणी मंगलिक कृपा, दिव्य चैत्य आसीस।
पाँचों अभिगम सह करूँ, चरण समर्पित शीश।।5 ।।
गुरूजी! कृपा करो मुझ पर, निगंठा...

अभिगम का ज्ञान

अनेकान्त सृष्टि में निरपेक्ष आनन्दपूर्वक जीने वाले आप्त पुरुष एवं उन आप्त पुरुषों की आगम वाणी को भाव वन्दना। भव्य आत्माओं की भव्यता को प्रणाम।

इंसान जीवन के हर क्षेत्र में कई सारे अनुभव निरन्तर प्राप्त करता रहता है। जीवन गति है, इसलिए जीवन जीते हुए हर इंसान को आगे बढ़ना ही होता है। आगे बढ़ता हुआ इन्सान पंचेन्द्रियों और मन के साधन द्वारा चाहे तो अपनी विवेक क्षमता को बढ़ा भी सकता है और चाहे तो उसका दुरुपयोग भी कर सकता है। यदि दुरुपयोग करता है तो उसका परिणाम भी उसे अनिवार्यतः भोगना ही पड़ता है। उसकी ज़िन्दगी में क्लेश, कलह, अशान्ति, बेचैनी और व्यग्रताएँ मौजूद रहती है लेकिन जो मनुष्य इन कलह-क्लेशों से, इन संकटों से मुक्त होना चाहता है अथवा उबरना चाहता है, वह मनुष्य कभी भी किसी भी परिस्थिति में 'नहीं उलझने का' संकल्प लेता है। वह कहता है कि चाहे कैसी भी परिस्थिति हो, मैं उसमें उलझूँगा नहीं। ऐसा व्यक्ति जीवन की सम्यक् गति को उपलब्ध होता है। अन्यथा, जो व्यक्ति जीवन में आने वाली विपरीतताओं में, संकटों में अथवा प्रतिकूलताओं में उलझना शुरु कर देता है, उसके जीवन की गति प्रगति नहीं बन पाती; निरन्तरता के साथ आगे नहीं बढ़ पाती। वह तभी बढ़ सकती है, जब व्यक्ति मार्ग में भटके नहीं।

सम्यक् ज्ञान के बिना भटकन की समाप्ति संभव ही नहीं। लेकिन प्रश्न यह है कि ऐसा ज्ञान उसे कैसे मिले? यह ज्ञान मिलता है गुरुओं की वाणी से, वीतराग भगवन्तों की वाणी से, अनुभवी आप्त पुरुषों की वाणी से। इसीलिये जिसे लगता है कि मुझे जीवन का वास्तविक स्वरुप समझना है और वास्तविक सौन्दर्य को उपलब्ध होना है, वह जिज्ञासु ज्ञानी भगवन्तों की वाणी की उपासना करता है, ज्ञानी भगवन्तों के ज्ञान को वन्दना करता है, उस ज्ञान को अपने जीवन में प्रगटाने के लिए उनका अभिवादन करता है।

कैसे करता है वह अभिवादन-यही प्रकरण हम जान रहे हैं। अब तक हमने जाना कि उपाश्रय में, स्थानक में, या गुरुद्वारे में प्रवेश करते हुए साधक

को पाँच अभिगमपूर्वक आना होता है। प्रथम अभिगम है–सचित्त का त्याग, द्वितीय है–अचित्त का विवेक, तृतीय है–उत्तरासंग धारण करना, चतुर्थ है–कर (हाथ) जोड़ व पंचम अभिगम है–पर्युपासना करना।

प्रथम अभिगम में सचित्त का त्याग करके आना होता है। सांसारिक विषयों से, अनावश्यक मुद्दों से जुड़े हुए अपने चित्तों को बाहर ही छोड़ कर आना होता है और अचित्त का भी विवेक करना होता है। अर्थात् अनावश्यक सामग्रियों को तो बाहर छोड़ना ही है, अपने अहंकार को भी बाहर ही छोड़कर पूरी समष्टि के प्रति प्रेम भाव से भर कर गुरु के द्वार में प्रवेश करना होता है। क्योंकि अगर कोई व्यक्ति शिकायत से भरे हुए चित्त के साथ गुरू के द्वार में प्रवेश करता है, तो वह गुरु के समीप जाकर भी गुरु के दर्शन नहीं कर पाएगा। अतः हमें अपने मन को शिकायतों से रहित करना आवश्यक है, और इसके लिए वह गुरू के द्वार में प्रवेश करने से पूर्व ही एक मंत्र अथवा सूत्र का उच्चारण करता है। वो मंत्र है–

'निस्सीहि! निस्सीहि! निस्सीहि!'

यह मंत्र तो बहुतों को मालूम है, लेकिन जानते हुए भी बहुत कम लोगों ने इस निवृत्ति मंत्र का उपयोग किया होगा। आओ, हम निवृत्ति मंत्र का सामूहिक उच्चारण करें–

''सारे प्रपंच निःसृत हो, निषिद्ध हो। वर्तमान खमत खामित हो। भूत कर्म मिथ्या हो। परस्पर सहानुभूति, सहयोग, वाद–विरोध एवं निमित्त प्रेरणा प्रसंगवश उद्भव हर कषाय, भाव–तरंग, याद, स्मृति, कांक्षा आदि विभाव आत्मा वोसिरण हो। वोसिरण हो। वोसिरण हो। सबका कल्याण हो।''

याद रखें हम, जब भी किसी मन्दिर, उपाश्रय, गुरूद्वार या स्थानक में प्रवेश करते हुए अपने जूते उतारेंगे तो वहीं पर दो मिनट ठहरेंगे और श्वास के सन्तुलित हो जाने के पश्चात् दीर्घ श्वास प्राणों में भर कर उसे छोड़ते हुए तीन बार कहेंगे–निस्सीहि, निस्सीहि, निस्सीहि। तीन बार इसलिये क्योंकि अन्तर्मन तक अपनी बात पहुँचाने के लिये उसे तीन बार टकोरना ज़रुरी है। तीन बार न टकोरें तो मन के गहरे तलों तक हमारे संदेश पहुँचते नहीं।

आपने देखा होगा, कोर्ट में जज को तीन बार बोलना पड़ता है–Order, Order, Order और तब सामने वाला उसे सुन लेता है। तो, आप भी तो

अपने मन को Order दे रहे हो, instruction दे रहे हो।

Order देने का तरीका है तीन बार निस्सीहि बोलना-निस्सीहि, निस्सीहि, निस्सीहि। मन योग से निस्सीहि, वचन योग से निस्सीहि और काय योग से निस्सीहि। काया से भी संसार को उस पल के लिए, उस समय के लिए, संकल्पित काल के लिए छोड़ना। दैहिक तल पर सांसारिक गतिविधियों का विसर्जन हो इसलिए प्रथम निस्सीहि बोला जाता है। वचन से भी सांसारिक भाषाओं को, सांसारिक शब्दावलियों को, रिश्ते-नाते की सोच को, रिश्ते-नाते के शब्दों को छोड़ो। गुरु के दरबार में आए हुए सभी लोग आपस में सहधार्मिक हैं-ना कोई भाई है, न कोई भतीजा है, न कोई पति है, न कोई पत्नी। सभी उपासक हैं, भक्त हैं, साधर्मी हैं, यहाँ कोई रिश्ता नहीं है; इसलिये वचन योग से भी संसार को बाहर छोड़कर आना, इसके लिए द्वितीय बार निस्सीहि बोला जाता है। तीसरी बार निस्सीहि मन योग से भी संसार को बाहर छोड़कर आने के लिए बोला जाता है। मन से सारे प्रपंचों को निस्सीहि करके उपासक उपाश्रय में प्रवेश करता है।

गुरूद्वार में वस्त्र-विवेक

तीसरा अभिगम शास्त्रकार बतलाते हैं कि 'उत्तरासंग' धारण करें। 'उत्तरासंग' का अर्थ होता है, व्यक्ति अपने कपड़ों को सामाजिक सभ्यता के अनुरुप व्यवस्थित तरीके से पहन कर आए। पुराने ज़माने में पुरुष लोग धोती और कुर्त्ता पहना करते थे। नीचे धोती पहने होती थी और ऊपर एक कपड़ा डाल दिया करते थे। आपने जितने भी ऐतिहासिक पौराणिक पात्रों को फिल्म में या चित्रों में देखा होगा, उनमें पुरुषों की वेशभूषा में ऊपर दुप्पट्टा है और नीचे धोती होती है। धोती को पूर्वासंग कहा जाता था, जो कमर तक बंधी होती थी और ऊपर से जो दुप्पट्टा धारण करते हैं, उसे उत्तरासंग कहा जाता था। उत्तरीय कहा जाता था। यह जो उत्तरीय वस्त्र है, इसे पुरुष लोग जब किसी सभा, सोसायटी में जाते थे, तब धारण कर के जाते थे, अपने घरों में रहे तो आवश्यक नहीं कि उत्तरासंग धारण कर के बैठे हों, बस पूर्वासंग पर्याप्त है। जब भी बाहर निकलें, सभा में जाएँ, समोशरण में जाएँ, प्रभु की उपासना करने जाएँ, तो उत्तरासंग धारण करके जाएँ। पुरुषों के लिए वर्णन आता है उत्तरासंग का और स्त्रियों के लिए वर्णन आता है कि वह देह को अवनत करे।(विणओ णयाए गायलट्ठीए)

यह हुआ तीसरा अभिगम, इस तीसरे अभिगम के साथ ही व्यक्ति स्वयं को उपासना की पोज़िशन में ले आता है। क्योंकि यदि भाव है किन्तु वैसी पोज़िशन नहीं है, वैसी अवस्था नहीं है तो भाव टिकेंगे नहीं। भावों को टिकाने के लिए भी आधार चाहिए और आधार के लिए सभी निमित्तों का उपयोग शुद्धतापूर्वक, विवेकपूर्वक होना चाहिए। इसीलिए जब बहिनें स्थानक में आती है, प्रभु के मन्दिर में जाती है तो बाहर कुछ नियम लिखे होते हैं कि वे, जिन्हें साधना करनी हो, ध्यान लगाना हो, वे लोग तंग कपड़े पहन कर न आएँ क्योंकि अगर तंग कपड़े पहन कर आएँगी, जो शरीर को कसने वाले हैं, बाँधने वाले हैं, तो उनका ध्यान शरीर से परे जा ही नहीं सकेगा। जब शरीर से कसी हुई कोई भी चीज़ है तो शरीर अपनी उपस्थिति का एहसास करवाता रहेगा; और ध्यान करने का मतलब ही यह है कि हम शरीर के तल से ऊपर उठ रहे हैं। शरीर के तल से निर्लिप्त हो रहे हैं। इसीलिये ज़रुरी है कि कपड़े ढीले-ढाले हो, तंग न हो। कपड़े हमें देह का ख्याल कराने वाले न हो। सादगीपूर्ण हो।

ये सारी व्यवस्थाएँ इसलिए है ताकि व्यक्ति ध्यान में आसानी से प्रवेश कर सके। व्यक्ति उपासना करे तो उसका मन उपासना में ही लगा रहे, उसका मन अपने शारीरिक सौन्दर्य की ओर, साज- सज्जा की ओर न जाए। इसीलिए यह नियम है कि यदि उपासना के लिये आ रहे हो तो मेकअप करके मत आओ। अगर मेकअप करके आओगे तो अपने आस-पास वाले लोगों का ध्यान आकर्षित करोगे। उनका ध्यान जो प्रभु भक्ति में लगना चाहिए, गुरुवाणी सुनने में लगना चाहिए वह नहीं लग पाएगा और इस प्रकार हम अनावश्यक रुप से गुरू ज्ञान की आशातना के और अन्तराय के भागी बन जाएँगे। वैसे भी, गुरु-दर पर आना हो तो मेकअप करके आने का प्रयोजन ही क्या है... ? हाँ, किसी पार्टी में जाना हो, तो प्रयोजन हो सकता है लेकिन गुरु दर पर आने के लिए तो मेकअप का कोई प्रयोजन नहीं होता।

जब मुखवस्त्रिका ही धारण करनी हो तो इन लिपिस्टिक आदि चीज़ों का प्रयोजन क्या है ? अगर यह विवेक नहीं रखा तो कितने सारे दोष पैदा हो जाएँगे। मुखवस्त्रिका रंगीली हो जाएगी और रंगीली मुखवस्त्रिका जीवों की उत्पत्ति का कारण बनेगी और जब उस की प्रतिलेखना-प्रक्षालना रोज़ाना नहीं होगी तब अनावश्यक दूषण पैदा होंगे, इसीलिये पहले से ही विवेक रखा जाए। तड़क-भड़क पैदा करे, ऐसे वस्त्र यहाँ नहीं पहनने होते हैं। न ही रंग-बिरंगे।

जहाँ तक हो सके श्वेत वस्त्र अथवा हल्के रंग के वस्त्र पहनने चाहिए। रंगों का भी चित्त पर प्रभाव पड़ता है। जहाँ सफेद रंग सादगी, शांति व प्रफ्फुल्लता देता है, वहीं लाल चुस्ती व आसमानी सुस्ती, पीला तन्दुरूस्ती व गुलाबी मस्ती पैदा कर देता है। इसीलिए पहने जाने वाले कपड़ों के रंगों का ख्याल भी रखा जाना चाहिए। ढीले-ढाले कपड़े ध्यान साधना में सहायक बनते हैं, तंग वस्त्र कहीं न कहीं बाधक बन सकते हैं। अतः ये बात भी ध्यान में रखने योग्य हैं।

केश-लोच क्यों ?

तीसरे अभिगम 'उत्तरासंग' के अन्तर्गत इस बात का भी विवेक रखा जाता है कि गुरु-दर पर प्रवेश करने वाले सभी स्त्री-पुरुष सिर ढक कर आएँ। सभी लोग अपना सिर ढक कर गुरुद्वार में आएँ। इसके पीछे कारण क्या है... ? क्योंकि बिना कारण जाने किसी भी क्रिया का अंधानुकरण उपयुक्त फलदायी नहीं होता। अतः हमें इसका कारण जानना चाहिए। सिर ढक कर रखने का कारण यह है कि हमारी सभी क्रियाएँ हमारे मस्तिष्क से संचालित होती है। हमारा मस्तिष्क, अपने विभिन्न विभागों के द्वारा इस संसार से जुड़ा हुआ है। हमारा दिमाग निरन्तर बाह्य संसार की सूचनाएँ ग्रहण कर रहा है तथा अपने भावों को विचारों के द्वारा पुनः बाहर प्रेषित भी कर रहा है। यह आदान और प्रदान हमारे दिमाग के द्वारा बालों (hair) की जड़ों के माध्यम से निरन्तर हो रहा है। हमारे जितने बाल हैं, जितनी उन बालों की जड़ें हैं, उतने ही हमारे मस्तिष्क में विषय (subject) हैं, उतने ही विभिन्न विभाग हैं। हमारे ये बाल संसार की सूचनाओं के संवाहक हैं। इन बालों के माध्यम से ही हमारे मस्तिष्क में सूचनाएँ आती है और बाहर प्रेषित होती है।

अतः जब तक यह सिर खुला है, तब तक हमारा संबंध बाहरी दुनिया से निरन्तर जुड़ा हुआ है। जब यह ढक लिया जाता है, तब बाहर से आने वाली तरंगों को ग्रहण करने के लिये हम उपलब्ध नहीं होते। इस बात का ब्रह्माण्ड को संकेत कर दिया जाता है-कि अभी हम बाहर से आने वाले आक्रमणों को, सूचनाओं को, प्रतिक्रियाओं को, विचारों को ग्रहण नहीं करना चाहते, क्योंकि इस समय हम केवल अपनी आत्म साधना के लिए, गुरु भक्ति के लिए, अथवा अपने आप में जीने के लिये उपस्थित हुए हैं। जब बाहर से, संसार से हमारा सम्पर्क छूटेगा, तभी तो गुरू से, ज्ञान से सम्पर्क सधेगा। इसीलिए ज़रा देखें,

चाहे पुरुष हो या स्त्रियाँ, गुरुद्वारे में सभी लोग अपना सिर ढक कर जाते हैं। समवशरण में जाने की विधि भी यही रही है। नमाज़ अदा करने जाना हो, अथवा गुरुद्वारे मत्था टेकने जाना हो–सभी अपना सिर ढक कर ही अन्दर प्रवेश करते हैं, चाहे पुरुष हो, चाहे स्त्री हो–ये बालों की जड़ बड़ी महत्वपूर्ण है। इनमें सारा रहस्य छिपा हुआ है। किसी व्यक्ति के भीतर क्या है–इसकी सूचना ये दे देती हैं।

हमारे बालों की जड़ें एक तरह से एंटीने का काम करती है। पुराने ज़माने से तांत्रिक लोग तंत्र में बालों की जड़ का प्रयोग करते रहे हैं। यदि किसी व्यक्ति के दिमाग को प्रभावित करना है, उसे पागल बनाना है, तो उसके जड़ सहित उखड़े हुए कुछ बाल किसी तांत्रिक को मिल जाए तो वह उन पर कुछ ऐसा मंत्र प्रयोग कर सकता है कि सामने वाले का दिमाग खराब हो जाए। इसीलिए, पुराने समय में, अगर आपने सुना हो तो हमारी दादी माँ–नानी माँ हमें यह सीख देती थी कि कंघी करते हुए हमारे बाल (केश) इधर–उधर नहीं बिखरने चाहिए। यदि बिखरे हैं तो उन्हें समेट कर गुच्छा बना कर पानी में बहा दो। हमारे जड़ सहित उखड़े हुए बाल किसी के हाथ न लगे–इसका विवेक रखा जाना चाहिए। पानी में चले जाने से उनकी तरंगों का प्रभाव समाप्त हो जाएगा। बहते पानी में डाल देने से वह वस्तु अन्य तरंगों के प्रभाव को ग्रहण नहीं करती और न ही अपना प्रभाव किसी अन्य पर डालती है।

यही कारण है जैन साधु के केश–लोच का। बालों को जड़ समेत उखाड़ने का। जैन साधु निवृत्ति की साधना करने वाला साधक है। वह दुनिया में कहीं किसी प्रकार का कोई संबंध किसी से नहीं बनाता। अपने चित्त में किसी को नहीं बसाता। और यदि उसके चित्त में कहीं किसी भी कोने में अतीत बसा हुआ है, तो वह उन चित्तों का त्याग करे। इसके लिए वह अपने बालों को जड़ सहित उखाड़े, केश–लोच की साधना करे। प्रत्येक बाल को जड़ से उखाड़ते हुए अपने चित्त को मोह मुक्त बनाता जाए।

कई बार लोग प्रश्न करते हैं कि साधु केश लोच क्यों करता है ? अपने सिर से बाल क्यों हटाता है ? अक्सर उन प्रश्नकर्त्ताओं को ये उत्तर मिलते हैं कि साधु सुन्दर न दिखे, ताकि साधु को नहाना–धोना न पड़े, ताकि साधु अपने शरीर की विभूषा (साज–सज्जा) न करे, वगैरह–वगैरह..... । लेकिन यदि ये कारण है साधु द्वारा केश–लोच किए जाने के, तो फिर तुरन्त नया प्रश्न आ

खड़ा होता है कि यदि ऐसा है तो साधु अपने बाल कैंची-उस्तरा अथवा अन्य कोई तकनीक द्वारा ही साफ करा दे, हाथ से बाल उखाड़ने की क्या आवश्यकता है? हाथ से बाल उखाड़ने से तो बहुत कष्ट होता है, अति पीड़ा की अनुभूति होती है? ये प्रश्न सिर्फ जिज्ञासुओं के ही नहीं, स्वयं लोच करने और करवाने वाले साधु-साध्वी भगवंतों के मन में भी उठते हैं। वे भी हमसे कई बार ये प्रश्न पूछते हुए कहते हैं कि हमारे गुरु-गुरुणी जी महाराज ने यह सिखाया कि वर्ष में एक अथवा दो बार केश लोच करना ज़रूरी होता है अन्यथा प्रायश्चित्त आता है, इसलिए कर रहे हैं, लेकिन इसे क्यों करना चाहिए? क्यों ज़रुरी है केश-लोच करना? इसका औचित्य क्या है? जब भगवान ने किसी को कष्ट न देने का निर्देश दिया है, दूसरों को कष्ट नहीं उपजाना है, तो स्वयं को भी कष्ट नहीं पहुँचाना है; तब फिर केश-लोच करके स्वयं को क्लेशित करने का क्या औचित्य है ?

जिज्ञासा स्वाभाविक है, किन्तु परिपाटी के विज्ञान को न जानने की वजह से पैदा हुई है। जब किसी क्रिया का पालन बिना कारण जाने, बिना ज्ञान और विज्ञान के होता हो तो, सच्ची श्रद्धा, सच्ची आस्था का होना संभव ही नहीं है। श्रद्धा-आस्था-निष्ठा और विश्वास की बातें की जा सकती है, लेकिन वस्तुतः सच्ची श्रद्धा के लिए ज्ञान होना अनिवार्य है। सम्यग्ज्ञान होगा, तभी सम्यग्दर्शन भी होगा अन्यथा शंकाएँ तो भीतर उपस्थित रहेगी ही।

साधु का हाथ से बालों को जड़ सहित उखाड़ना अर्थात् केश-लोच ही क्यों आवश्यक है, इसके पीछे भी वैज्ञानिक कारण है। किसी को कष्ट देने के लिए लोच नहीं होता है। हाथ से बालों का लुंचन इसलिए किया जाए ताकि बाल जड़ सहित बाहर निकले। यदि बालों को बाहर निकालने के लिए कोई भी अन्य साधन का इस्तेमाल करते हैं, चाहे कैंची हो या उस्तरा, बाल जड़ सहित साफ नहीं होते हैं। बालों की जड़ें भीतर मौजूद ही रहती है। जब तक भीतर जड़ें विद्यमान है, तब तक हमारे मस्तिष्क में अतीत के सारे विषय (subject) भी मौजूद हैं। जन्म-जन्मांतरों के संस्कार भी संचित हैं, संज्ञा और कषाय भी मौजूद है और इन सबके साथ हमारा संबंध भी विद्यमान है।

जैन साधु निवृत्ति की साधना करता है। जहाँ एक ओर, हिन्दु साधु प्रवृत्तिमय शैली से मोक्ष की साधना करता है, शक्तियों का संचय करता है, वहीं दूसरी ओर जैन साधु निवृत्ति की, अपरिग्रह की साधना करता है। जैन साधु

को तो जप-तप-ध्यान आदि के द्वारा शक्तियाँ प्राप्त भी हो जाए, तब भी उन्हें इकट्ठा करके नहीं रखना होता है। यही कारण है कि जैन साधु न सिर पे बाल रखता है, न ही पैर में जूता। ताकि वह पैरों से जो शक्ति अथवा ऊर्जा ग्रहण करे, उसे सिर के माध्यम से पुनः बाहर निकाल दे। वह दोनों ही तरफ से कोई आवरण नहीं रखता-न पैरों में चप्पल-खड़ाऊ या जूता है और न ही सिर पर बाल। दोनों ही उघाड़े (bare) हैं। ऐसी स्थिति में वह धरती से निरन्तर प्रवाहित होने वाली ऊर्जा को सीधे ग्रहण करता है, प्रत्यक्षतः (directly) धरती से सम्बन्धित रहता है; और पैरों द्वारा ग्रहीत ऊर्जा को शरीर में प्रवाहमान होते हुए खुले सिर के माध्यम से वापिस बाहर छोड़ देता है।

हिन्दू साधु की साधना पद्धति इस तरह की होती है कि वह ध्यान आदि के द्वारा जो शक्तियाँ, जो ऊर्जा प्राप्त करे, उसे अपने भीतर सुरक्षित व संरक्षित करे। प्राप्त ऊर्जा पैरों द्वारा बाहर प्रवाहित न हो, इसलिए वह पैरों में खड़ाऊ अर्थात् लकड़ी के चप्पल धारण करता है। चूँकि लकड़ी कुचालक (bad conductor) होती है, electricity को बाहर बहने नहीं देती है; इसीलिए लकड़ी के ही चप्पल धारण करता है-न चमड़े के, न कपड़े के, न किसी अन्य वस्तु के-सिर्फ लकड़ी के ही।

भारतीय मनीषियों ने कोई बात अकारण नहीं कही, व्यर्थ नहीं कही। यदि उन्होंने कोई सूत्र, कोई विधि दी है, तो उस विधि, उस क्रिया के पीछे प्रायः कोई विज्ञान अवश्य रहा होता है। हर क्रिया-विधि के पीछे वैज्ञानिक कारण होता है, लेकिन कालान्तर में, समय बीतने के साथ ज्ञान-विज्ञान विस्मृत हो जाता है और क्रियाएँ परिपाटी व रिवाज़ का रूप ले लेती है तथा पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित भी होती रहती है। रिवाज़ अथवा परिपाटी को वहन करने का आग्रह तो बना रहता है किन्तु परम्पराओं में निहित सत्य अक्सर हमारी नज़रों से ओझल हो जाते हैं।

हिन्दू साधु पैरों में तो खड़ाऊ पहनता ही है, सिर पर भी केशों को बाँधकर चोटी बनाता है। यदि वह मुण्डन भी करवाता है तो बाकी केशों का भले ही मुण्डन करवाए, लेकिन ब्रह्मरंध्र के समीप के केशों को बाँध कर उसकी शिखा (चोटी) धारण करता है। अन्यथा, मुण्डन नहीं करवाएगा तो बालों को इकट्ठा करके अपने सिर पर जटाजूट बाँध देगा ताकि जो ऊर्जा

उसके भीतर जप-तप और ध्यान के द्वारा उत्पन्न हो रही है, सहस्रार चक्र में एकत्रित उस ऊर्जा को आवश्यकता पड़ने पर समाज में अनुदान कर सके। समाज अथवा देशहित के लिए उत्तम सन्तान उत्पत्ति में योगदान कर सके। प्राचीन काल में कई ऋषि-मुनियों ने नियोग प्रथा का उपयोग कर समाज को उत्तम संतान का योगदान दिया। ऐसा कहा जाता है कि दशानन रावण भी वैश्रवा ऋषि का आत्मज था। पाँचों पांडव भी ऋषि के तप का अनुदान हुए।

जैन साधु की ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह व्रत की साधना है, इन्हें साधने हेतु वह अपने भीतर किसी भी प्रकार की ऊर्जा (energy) को संचित (store) न करे यह भी आवश्यक है क्योंकि ऊर्जा का स्वभाव है कि वह सदा गतिमान रहती है, स्थिर नहीं रहती। ऐसे में उसे ऊर्ध्वगामी बनाना ज़रूरी है। इसीलिए जैन साधु कुछ संचय नहीं करता। पैरों के माध्यम से ग्रहण की हुई ऊर्जा को पुनः खुले सिर द्वारा विसर्जित होने देता है। ऊर्जा के आने और जाने का मार्ग खुला होने के साथ ही, वह ऊर्जा बीच में भी कहीं अटके नहीं, इसकी जागृति बनाए रखनी होती है। अगर जैन साधु के भीतर किसी भी प्रकार की गाँठ (मनोग्रन्थि) रह जाती है तो उसकी ऊर्जा अधोपतन का मार्ग ग्रहण कर लेती है। इसीलिए हम देखें, जैन साधु के लिए एक विशेषण प्रयुक्त होता है-निर्ग्रन्थ। जैन साधु को निर्ग्रन्थ कहा जाता है, जिसके भीतर कोई गाँठ न हो। न बाहर शरीर पर कोई गाँठ होती है, न ही मन में किसी प्रकार की गाँठ (ग्रन्थि) होती है। यदि उसके मन में कोई ग्रन्थि रहती है तो उसकी ऊर्जा सीधी गति नहीं करेगी, बीच में भटक जाएगी और पतन का कारण बनेगी। जब तक साधक के अन्तर् में गाँठे हैं, तब तक उसका पतन सुनिश्चित है।

यही कारण है कि निर्ग्रन्थ साधना विधि कहती है कि साधक के भीतर किसी प्रकार की ग्रन्थि न हो। मन में कोई complex न हो। हम अपने मन को टटोलें तो पाएँगे कि हमारे मन में तो अनगिनत complexes हैं-कभी inferiority complex, तो कभी superiority complex, तो कभी कोई और ग्रन्थि....। There is an ocean of complexes inside us. हमारा मन तो ग्रन्थियों का महासागर है, जिसके भीतर जटिलताएँ ही जटिलताएँ हैं। जटिलताएँ इसलिए है, क्योंकि सम्यग्दर्शन नहीं है। Right Understanding नहीं, Right Approach नहीं, Right Knowledge नहीं, इसीलिए इतनी गाँठे

हैं हमारे अन्दर। यदि हमारा दर्शन सम्यक् हो जाए अर्थात् समझ सही हो जाए, तो गाँठें खत्म होने लगेंगी। हमारी सारी साधना का लक्ष्य यही है कि हमारे मन की ग्रन्थियाँ दूर हो। जिनकी गाँठे दूर हो चुकी हैं, जो निर्ग्रन्थ हैं, उनके अतिशय से हमारे भीतर भी ज्ञान प्रकट हो, दर्शन प्रकट हो।

स्थानक-मन्दिर-उपाश्रय-गुरुद्वार-समवशरण में प्रवेश करने की विधि यही है कि वहाँ सिर ढक कर रखा जाए, ताकि उस समय हमारा चित्त संसार के अन्यान्य विषयों के साथ सम्पर्क न स्थापित कर सके। यह ठीक ऐसा ही है जैसे हमने अपने टेलीफोन का कनेक्शन बन्द कर दिया हो, mobile को switch off कर दिया हो। जितनी देर के लिए गुरु-ज्ञान अथवा आत्मा की पर्युपासना में बैठना हो, उतनी देर के लिए संसार के विषयों से संबंध विच्छेद कर दिया जाए। संसार तो अब भी हमारे चारों ओर प्रवाहित होता रहेगा, किन्तु हम उससे अप्रभावित रह सकें, हम उसमें बंधे नहीं, उस बंध को रोका जा सकता है। जो सहज प्राकृत आस्रव है, वह तो समस्त वायुमण्डल में सतत् बहने वाली हवाओं के समान है; इसे नहीं रोका जा सकता है। निरन्तर चारों ओर फैली हुई तरंगों और कम्पनों को रोका नहीं जा सकता है, लेकिन हम उनके साथ अपना सम्पर्क न जोड़ें, यह सम्भव है। हम संवरित हो जाएँ, यह संभव है और संवरित होने का द्रव्य विधान रूप, एक तरीका यह भी है कि अपना सिर ढक कर रखा जाए। पाँचों इन्द्रियों का निग्रह किया जाए। तीनों योगों का संवर किया जाए। लेकिन आज जैन बंधुओं में यह प्रथा हट गई है, समाप्त प्रायःहो गई है।

पहले, जैन समाज के भाई लोग भी सिर पर पगड़ी बाँधते थे अथवा अपने कंधे पर एक उत्तरीय (दुपट्टा) रखते थे; जब भी मंदिर में, गुरु दर पर, स्थानक-उपाश्रय आदि में जाते, तब उसे अपने सिर पर धारण कर लेते थे। बहिनों का तो परिधान ही इस प्रकार का था कि वे गुरु-द्वार पर हमेशा सिर ढक कर ही बैठती थी। लेकिन आज आधुनिक युग में हर चीज़ फैशन के अनुसार होती है, सब कुछ modern हो गया, भक्तगण भी सब सुविधा भोग शैली से जीते हैं, सो वे कहते हैं कि 'महाराज जी! अब क्या सिर ढकना। ये सब तो पुरानी बातें हैं, छोड़ो इन सब बातों को, अब कहाँ ज़रूरत है सिर ढकने की.... ?' आज हमें उन विधानों के प्रति, अपनी विधियों के प्रति वो आदर-वो ज्ञान नहीं रहा। वो ज्ञान खोता जा रहा है। लेकिन ज़रा ध्यान दो, ना खोए वह ज्ञान। जीवित रखो

उस ज्ञान को। हर क्रिया-विधि के पीछे रहे विज्ञान की शोध करो। खोज करोगे, जिज्ञासा रखोगे तो पता चलेगा कि इन सबका क्या उपयोग है। इन विधियों की क्या महत्ता है....। ये विधियाँ ध्यान में सहायक बनती है, इसीलिए ये विधियाँ भी उपादेय है। यह हुआ तीसरे अभिगम 'उत्तरासंग' का वर्णन।

चौथा अभिगम है-कर जोड़। साधक जब भी गुरु द्वार (स्थानक-मंदिर-उपाश्रय) में अथवा समवशरण में प्रवेश करता है तो गुरु के समीप जाने के साथ ही, घर से निकलने के साथ ही साधक के भाव गुरुमय हो जाते हैं, गुरु भक्ति से भर जाते हैं और उसे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मेरे चारों ओर बस गुरु ही गुरु है, गुरुकृपा ही बरस रही है; और तब साधक के दोनों हाथ स्वतः जुड़ जाते हैं, सिर स्वतः झुक जाता है। तब सम्पन्न होता है चौथा अभिगम-कर जोड़, अर्थात् व्यक्ति अपने हाथों को जोड़ लेता है और गुरु वाणी के प्रति श्रद्धायुत हो ग्रहणशील बन जाता है।

प्रथम अभिगम 'सचित्त त्याग' धारण करने के साथ ही तिक्खुत्तो के पाठ का, चरणानुयोग का प्रथम 'वंदामि' पद घटित होता है, अथवा यूँ कह दें, वंदामि की भावदशा आने के साथ ही सचित्त त्याग हो जाता है। द्वितीय पद 'नमंसामि' की अवस्था में साधक अचित्त के विवेक को उपलब्ध होता है। फिर 'सक्कारेमि' बोलता हुआ वह सत्कार करता है और सत्कार तब होगा जब वह स्वयं उस अवस्था में, उस position में आ जाए। उस position में आने के लिए तीसरा अभिगम था-उत्तरासंग। उत्तरासंग धारण करता हुआ व्यक्ति सत्कार करता है। फिर 'सम्माणेमि' अर्थात् सम्मान करते हुए चौथा अभिगम धारण होता है। दोनों हाथ जुड़ जाते हैं। दोनों हाथ जोड़ने का मतलब है कि मैं अपने इस जीवन को, इस देह की कार्यक्षमता को-हमारे दोनों हाथ हमारी कार्यक्षमता के प्रतीक है-अपनी कार्य करने की क्षमता को ही गुरुदेव के चरणों में समर्पित करता हूँ.....कि आपकी जो आज्ञा है वह मुझे शिरोधार्य है-दोनों हाथ जोड़ना आज्ञा में समर्पण का प्रतीक है। हाथ जोड़ने का मतलब ही समर्पण है.....कि आप जो कहोगे, जो संकेत करोगे वह मुझे स्वीकार है। आपकी भावनाएँ, आपकी आज्ञाएँ-सब मुझे स्वीकार है।

हम देखें, हम लोग कितने धोखेबाज़ (cheater) हैं। औरों को भी धोखा देते है; और स्वयं अपने आप को भी धोखा देते हैं। दूसरों को हाथ तो

जोड़ देते हैं किन्तु उनकी बात नहीं सुनते, उनकी बात नहीं मानते। जहाँ हमें लगता है कि यहाँ झुकने से, यहाँ हाथ जोड़ने से हमें फायदा (profit) होने वाला है, तो वहाँ हम दोबारा, तिबारा, चौबारा, भी हाथ जोड़ लेंगे और जहाँ लगता है कि यहाँ हाथ जोड़ने पर कोई देखने वाला नहीं है, कोई फायदा नहीं होने वाला है, कोई महत्व (importance) नहीं देने वाला है; तो हम कहते हैं; 'चलो, छोड़ो, कौन हाथ जोड़े.....।' हम बुद्धि से संचालित लोग हैं, भावनाएँ कम होती जा रही है हमारे भीतर। लेकिन जो लोग अभी भी जीवन में उच्चतर मूल्यों को महत्व देते हैं, देव-गुरू-धर्म को महत्व देते हैं, गुरू के ज्ञान आदि गुणों की भक्ति करते हैं; वे लोग हृदय के तल पर जीते हैं। वे दिल से जुड़ते हैं। उनके हाथ स्वतः जुड़ जाते हैं। जैसे ही हमारे दोनों हाथ जुड़ते हैं, उस अंतराल में एक बड़ी गज़ब की घटना घटती है। उस अंतराल में व्यक्ति अपने दोनों ध्रुवों से जुड़ जाता है।

इंसान अपने भीतर टुकड़ों-टुकड़ों में बँटा हुआ है। अपने भीतर एक नहीं है। उसका mind कभी पूर्व दिशा में घूमता है, कभी पश्चिम में, कभी उत्तर में तो कभी दक्षिण की ओर घूमता है। हज़ारों-लाखों विचार दिमाग में हर वक्त चलते रहते हैं, आक्रमण करते रहते हैं। यही कारण है कि आज मनुष्य इतना बीमार है। ये बीमारियाँ दूर हो सकती है, अगर हमारे दिमाग के दोनों ध्रुव-दक्षिणी ध्रुव और उत्तरी ध्रुव-जुड़ जाएँ। मानव देह के दो छोर हैं-दायाँ अंग और बायाँ अंग। दाहिने अंग का संचालन हमारे बाएँ मस्तिष्क (left hemisphere) द्वारा होता है और बाएँ अंग का संचालन दाहिने मस्तिष्क (right hemisphere) के द्वारा। मस्तिष्क के ये दोनों हिस्से एक-दूसरे से विपरीत है। एक स्त्रैण है, तो दूसरा पुरुषैण है। एक भावनात्मक है, दूसरा तार्किक। एक सृजनात्मक है, दूसरा परिपाटी का अनुगामी। हमारा बायाँ मस्तिष्क, जो स्त्रैण है, वह शरीर के दाहिने हिस्से को चलाता है; और दायाँ मस्तिष्क, पुरुषैण भाग, बाएँ शरीर को गति देता है।

हमारे यहाँ बच्चों को, जन्म लेने के बाद, जब वह लिखना शुरु करता है, काम करना शुरु करता है, तब उसे हर काम दाहिने हाथ से करना सिखाते हैं। उसे शुरु से ही दाहिने हाथ से हर कार्य करने का प्रशिक्षण देते हैं-कि right hand से खाना खाओ, right hand से लिखो, कोई भी कार्य right hand से

करो आदि। ऐसा क्यों किया जाता है? ताकि वह सामाजिक बना रहे। समाज की प्रचलित सोच व संस्कारों को स्वयं भी अपनावे एवं आगे भी बढ़ावे। जो लोग left hander होते हैं, वे अक्सर नई शैली के सृजक होते हैं। वे भेड़ चाल नहीं अपनाते। ऐसे लोगों से प्रायः घर-परिवार, संघ-समाज के लोग कतराते भी हैं क्योंकि उन्हें अंधानुकरण के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। इसलिए लोग चाहते हैं कि वह left hand से नहीं; अपितु right hand से लिखे।

सत्य बड़ा विचित्र है। आदमी की समझ जिसे सत्य मानती है, अक्सर सत्य उससे ठीक उलटा होता है। हम सभी लोग दाहिने हाथ से काम करना अच्छा समझते हैं, जबकि जो व्यक्ति left hander है उसके मस्तिष्क का right hemisphere जागृत है, सक्रिय है। मस्तिष्क का दायाँ हिस्सा कुछ नया आविष्कार करता है, सृजन करता है, नए ज्ञान-विज्ञान की खोज करता है। हमारे भीतर के दोनों हिस्सों का विज्ञान बड़ा गहरा है, जिसे हम फिर कभी जानेंगे। यदि इन दो भागों का विज्ञान समझ में आ जाए और व्यक्ति इसमें निष्पक्ष हो जाए तो मोक्ष घटित होता है।

हम बात कर रहे थे चतुर्थ अभिगम-अंजलिकरण यानि दोनों हाथ जोड़ने की। हाथ जोड़ना कोई साधारण क्रिया नहीं है, बड़ी गहरी प्रक्रिया है। इस क्रिया-विधि के पीछे एक अद्भुत विज्ञान है। जैसे ही आपके दोनों हाथ जुड़े, आपका पुरुषैण भाग और स्त्रैण भाग, आपका दायाँ अंग और बायाँ अंग, ईड़ा नाड़ी और पिंगला नाड़ी दोनों ही जुड़ गए और आप सुषुम्ना की अवस्था में आ गए यानि मध्य में आ गए, संधि में आ गए। अब इस अवस्था में क्रान्ति घटित हो सकती है। जब तक व्यक्ति मध्य में न आए, सन्धि को न जाने; तब तक क्रान्ति घटित नहीं होती। इसीलिए स्वयं को मध्य में लाने के लिए, संतुलन में लाने के लिए दोनों हाथ जोड़े जाते हैं।

आप स्वयं प्रयोग करके देखें। किसी दिन आप बहुत tension में हो, मन बेचैन अथवा आकुल-व्याकुल हो रहा हो, और आप इसे दूर हटाना चाहते हो-अगर हकीकत में दूर हटाना चाहते हो, क्योंकि आप कहते तो हो कि हम बेचैनी और चिन्ता को दूर भगाना चाहते हैं, चिन्ता छूट जाए तो बढ़िया है; मगर अक्सर वास्तव में चिन्ता कोई छोड़ना नहीं चाहता है। Tension खुद करते हैं, लेकिन चाहते हैं कि उसे कोई और छुड़वाए। स्वयं नहीं छोड़ना चाहते। लेकिन

फिर भी यदि कोई इससे दूर होना चाहता है तो वह यह प्रयोग करे। जब आप बहुत ज्यादा व्यग्र हो रहे हो, तो उसी क्षण संकल्प कर लो कि अब मैं आधे घण्टे तक हाथ जोड़कर यहीं बैठा रहूँगा। आप कोई मंत्र, जाप, पाठ, माला, पूजा वगैरह चाहे करो चाहे ना करो; बस हाथ जोड़कर आँखें बन्द करके बैठे रहो। आधे घण्टे बाद आप देख लीजिएगा कि आपकी tension कहाँ चली गई। आप automatically balanced हो जाओगे। बस हाथ जोड़कर बैठ जाओ, शरीर का यह posture आपके मन को प्रभावित कर देगा। यहाँ सब कुछ परस्पर जुड़ा हुआ है। मन से तन जुड़ा हुआ है और तन से मन। मन को बदल दें, तो तन की कई बीमारियाँ दूर हो जाएँगी और तन के posture को बदल दें तो यह मन की काफी बीमारियों को दूर करने में सहायक होगा। भावपूर्वक हाथ जुड़े तो सिर स्वयंमेव झुकेगा, सिर झुकते ही हृदय के बंद द्वार खुलेंगे, दिल के भावों से समर्पण हुआ तो हम हृदयपूर्वक गुरू वंदना करते हुए गाएँगे कि

हृदय से क्षमासमण वंदन, करूँ आदर सत्कार नमन।
सदा कल्याण मंगलं आप, दिव्य गुरू चैत्य व हर्ता ताप।
करूँ पर्युपासन चित्त लाय, रहे साता का जतन उपाय।
रहे साता का सतत उपाय।।

कई लोग प्रवचन सुनते हुए पूरे प्रवचन के दौरान अपने दोनों हाथ जोड़े रखते हैं। यदि पूरा प्रवचन सुनते हुए आपके दोनों हाथ जुड़े हैं तो आपके भीतर कोई अपूर्व घटना घट सकती है। आपके भीतर के द्वार खुल सकते हैं। इसलिए यह चौथा अभिगम 'कर जोड़' बहुत महत्वपूर्ण है।

वंदामि नमंसामि सक्कारेमि-इन तीन पदों के बाद चौथा पद सम्माणेमि बोलता हुआ साधक अपने गुरु को सम्मान देता है, अर्थात् अपने दोनों हाथ जोड़ता है। अपने हाथों को जोड़ना उत्कृष्ट सम्मान देना है। अतः साधक अपने भीतर से मान को छोड़कर गुरु को 'सम्' अर्थात् उत्कृष्ट मान यानि सम्मान देता है। यदि आप भी ऐसी भावना रखते हैं कि मेरे भीतर से मान छूट जाए, तो गुरु को सम्मान दें, अपने दोनों हाथों को जोड़े और चौथे अभिगम को धारण करें। पाँचवें अभिगम की बात यथावसर.....

ॐ शान्ति! ॐ शान्ति! ॐ शान्ति!!

मैं करूँ भाव से

मैं करूँ भाव से वन्दन मेरा अहरह स्वीकार हो।।टेर।।

नमो नमः गुरूदेव सुहाने, अर्हत् सिद्ध आचार्य।
उपाध्याय साहू सकल जग, सुबह सुमरणीय आर्य, जो।।1।।
मैं करूँ भाव से.....

वीतराग वाणी को वन्दन, तरणी तीनों काल।
नमस्कार चारों तीर्थों को, प्रणमूँ निमित्त सुकाल, जो।।2।।
मैं करूँ भाव से.....

उदय कर्म की सुखद वर्गणा, जो देवे सत्संग।
मैं विराट वन्दूँ सदा, गुरू नैश्रय मिले प्रसंग, जो।।3।।
मैं करूँ भाव से....

नमस्कार सब भाव और पल, जो साधे मम इष्ट।
फैले प्रेम परस्पर जग में, बना रहूँ मैं शिष्ट, जो।।4।।
मैं करूँ भाव से.....

तीन परिक्रमा कैसे व क्यों ?

अनेकान्त सृष्टि में अभंग दर्शन को उपलब्ध अनन्त आनन्द में रमण करने वाली आप्त पुरुषों की सहज स्वभाव आत्मा को एवं उनकी आगम वाणी को भाव वन्दना। समस्त भव्य आत्माओं की भव्यता को प्रणाम।

गुरु के द्वार पर आना, प्रवेश करना- इस विधि का नाम है 'अभिगम विधि' (Rules of Decent Approach)। अभिगम विधि में साधक सचित्त त्याग करता हुआ, अचित्त का विवेक करता हुआ, उत्तरासंग धारण कर अपने दोनों हाथों को जोड़कर गुरु के समक्ष आता है। अब जब वह गुरू को देखता है तो वह मात्र गुरू को, गुरू के गुणों को देखता है। उनके सिवाय सारा संसार उसके अन्दर-बाहर व आस-पास से विलीन हो जाता है। अब संसार उसके लिए महत्वपूर्ण नहीं। हाँ, गुरु के पास और भी परिचित बैठे होंगे, कुछ राजनेता लोग भी बैठे हो सकते हैं, कुछ धनी लोग भी बैठे हो सकते हैं, कुछ सुन्दर लोग भी बैठे हो सकते हैं लेकिन उपासक की नज़र उन लोगों पर नहीं जाती; उपासक की नज़र केवल गुरु के चरणों पर जाती है। इसीलिये पाँचवा अभिगम होता है - 'अपने चित्त को गुरु के चरणों से जोड़ देना।' औपपातिक सूत्र में पंच अभिगमपूर्वक गुरूवंदना का मूल पाठ इस प्रकार मिलता है-

जेणेव समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छन्ति तं जहा-
सचित्ताणं दव्वाणं विओसरणयाए
अचित्ताणं दव्वाणं अविओसरणयाए
विणओ णयाए गायलट्ठीए
चक्खुफासे अंजलिपग्गहेणं
मणसो एगत्ती भाव करणेणं

समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेंति, वंदंति, णमंसंति, वंदित्ता, णमंसित्ता.... विणएणं पंजलिउडाओ पज्जुवासंति।

पूर्वाचार्यों ने एक लघु पद्य में इन पाँच अभिगमों को इस प्रकार कहा है कि-

सचित्त त्याग, अचित्त विवेक, उत्तरासंग, कर जोड़।
कर एकाग्र चित्त को, प्रभु चरणों में मोड़।।

अपने चित्त को, अपने हृदय को मात्र गुरु गुणों के लिए ही खोलना, बाकी सूचनाओं के लिए अपने हृदय को उस समय के लिए बन्द कर देना-यह पाँचवा अभिगम है। ऐसा करता हुआ साधक जब गुरु के समक्ष आता है तो गुरु के सामने खड़े होकर पुनः एक मिनट के लिये अपनी श्वास को सन्तुलित हो जाने देता है। जब श्वास सन्तुलित हो गई, तब वह अपने मन को हर बाहरी आवेग और विचारों से हटा कर पुनः 'निस्सीहि' करने के पश्चात् गुरु से आज्ञा लेता है-वन्दना के लिये। ध्यान दीजिए, गुरु की वन्दना करने के लिए भी गुरु से आज्ञा ली जाती है।

इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निस्सीहियाए।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सावग लोग इसी पाठ से गुरू वंदन करते हैं। इस पाठ में उपासक कहता है-'हे क्षमासमण! मैं इच्छा करता हूँ। हे गुरुदेव! मैं इच्छा करता हूँ, वन्दना करने की......। मैं यथाशक्ति इस संसार से निस्सीहि हो कर, इस संसार से निवृत्त होकर आया हूँ। यथाशक्ति....। पूर्णतया निवृत्त हो गया हूँ एक बार में ही, ऐसा तो possible नहीं है लेकिन जहाँ तक मेरा सामर्थ्य है, जहाँ तक मेरा विवेक जागृत है, जहाँ तक मेरी इच्छा शक्ति दृढ़ है, मैं इस संसार को अपने भीतर से निस्सीहि करता हूँ। इसीलिए सूत्र पद है 'जावणिज्जाए निस्सीहियाए।' जावणिज्जाए यानि यथाशक्ति, निस्सीहियाए यानि निस्सीहि हो कर, मैं वन्दना करने के लिये आया हूँ। और तब गुरु आज्ञा देते हैं- 'अणुजाणह' यानि, आज्ञा है। तब वह गुरु के अवग्रह क्षेत्र में प्रवेश करता है -मे मिउग्गहं- मुझे आपके मितावग्रह क्षेत्र में प्रवेश की आज्ञा है।

गुरु का अवग्रह क्षेत्र क्या है.... ? हर व्यक्ति का अपने चारों ओर एक अवग्रह क्षेत्र होता है-उस व्यक्ति की अपनी अवगाहना (height) को त्रिज्या (radius) मानकर खींचा गया वृत्त (circle) उस व्यक्ति का 'अवग्रह क्षेत्र'

कहलाता है। एक व्यक्ति जितना लम्बा है, चारों दिशाओं में उतनी लम्बाई के स्थान को छोड़ दिया जाए, उतना क्षेत्र उस व्यक्ति का अपना अवग्रह क्षेत्र कहलाता है। साधारण भाषा में कहा जाए तो एक व्यक्ति अपने दोनों हाथ फैला कर चारों ओर घुमा सके, इतना क्षेत्र उस व्यक्ति का अपना क्षेत्र, अवग्रह क्षेत्र है। अगर किसी व्यक्ति के इतने नज़दीक जाना है, तो उस व्यक्ति की इच्छा के बगैर नहीं जाना चाहिए। उसकी आज्ञा के बगैर नहीं जाना चाहिए। गुरु की आज्ञा के बगैर गुरु के इतने समीप खड़ा नहीं हुआ जा सकता। यदि कोई वन्दना का इच्छुक है तो वह वहाँ तक आने पर, आकर रुक जाएगा, और तब गुरु से आज्ञा माँगेगा कि 'हे गुरुदेव! आज्ञा है, मैं परिक्रमापूर्वक आपकी वन्दना करना चाहता हूँ। जब गुरु महाराज अपने संकेत से आज्ञा देते हैं, तब वह पर्युपासक गुरु के समक्ष हाथ जोड़े खड़ा होता हुआ, तीन बार गुरु की आदक्षिण-प्रदक्षिणा करता है।

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि। तिक्खुत्तो यानि तीन बार। आयाहिणं यानि आदक्षिण, गुरु को अपने दाहिने हाथ में रखता हुआ। जैसे, यदि कोई खड़ा है और उसे परिक्रमा शुरु करनी है, तो वह कहाँ से शुरु करेगा? वह इस तरह घूमेगा दाहिने ओर से कि उसका हाथ भी दाहिना और गुरु का हाथ भी दाहिना होगा। गुरु को दाहिने में रखा जाता है। क्यों... ? क्योंकि दाहिने का मतलब है कि आप ज्येष्ठ हैं, आप श्रेष्ठ हैं, आप मेरे दक्षिण हैं। दक्षिण कहते हैं दाहिने (Right) को और दक्षिण का मतलब होता है-आप योग्य हैं, दक्ष हैं। आपकी योग्यता को मैं अपने सामने रखता हूँ। आपकी योग्यता को मैं अपने दाहिने में रखता हूँ और आपकी योग्यता का मैं अनुसरण करता हूँ। हम गुरु की योग्यता को अपने भीतर लाना चाह रहे हैं, इसीलिए हम गुरु को दाहिने में रखते हुए तीन बार गुरु की परिक्रमा करते हैं। आदक्षिण-प्रदक्षिणा। गुरू के सामने हाथ जोड़ते हुए सम्मुख से पीछे जाना आदक्षिण है और वापिस पीछे से सम्मुख आना प्रदक्षिण है। आदक्षिण और प्रदक्षिण-दोनों पद मिलकर एक परिक्रमा बनती है।

पर्युपासक परिक्रमा कर रहा है गुरु की, तीन बार गुरु के दाएँ से बाएँ घूम रहा है। वह अपने भीतर श्वास भरकर पहली बार घूमकर ठहरता है, रूकता है। फिर श्वास छोड़ता है। पुनः श्वास भरकर फिर दोबारा घूमता है। बड़ी शान्ति से, बड़े धैर्य से, बड़े प्रेम से। फिर दूसरी परिक्रमा सम्पन्न करता है,

फिर श्वास छोड़ता है, पुनः श्वास भरता है और श्वास भरी ही रहे, इस तरह तीसरी परिक्रमा सम्पन्न करता है। फिर तीसरी बार श्वास छोड़ता है। यह तीन बार श्वास भरकर परिक्रमा करना और सामने आ कर धीरे-धीरे श्वास छोड़ते हुए खड़े हो जाना-यह तीन परिक्रमा की जाती रही है, इसीलिए पद आया- 'करेमि'। तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि- तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा 'करता हूँ'।

हकीकत में ये विधि उपासक द्वारा की जाती थी, इसलिये शास्त्रकारों ने इसे सूत्रों में इस तरह लिखा है कि वह व्यक्ति गुरु के पास आया और आकर तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ करेत्ता....। उसने आदक्षिण-प्रदक्षिणा की। वन्दइ वन्दित्ता नमंसइ नमंसित्ता। सक्कारेइ सम्माणेइ कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेइ-यहाँ तक का पाठ सूत्रों में मिलता है। अब इन सूत्र पदों को समझें। सूत्र पद कहते हैं कि अमुक व्यक्ति गुरु के अथवा भगवान के पास गया। जा कर तीन बार उसने आदक्षिण-प्रदक्षिणा की और करने के बाद वंदना की। फिर वंदना करने के बाद नमस्कार किया और नमस्कार करने के बाद उसने गुरु का सत्कार किया, सम्मान किया। गुरु से कहा कि आप मेरे लिए कल्याण रुप हो, मंगल रुप हो, दिव्य रुप हो, चैत्य रुप हो और फिर उसने गुरु की पर्युपासना की। पर्युपासना की यानि गुरु के समीप उपासना के लिए बैठ गया, गुरु के समीप उपासना के लिए उपस्थित हो गया। तो, उपासक उपासना प्रारम्भ करे, उससे पहले वन्दना करे और वन्दना से पहले परिक्रमा।

'परिक्रमा' की जाने वाली क्रिया है, परिक्रमा के पद मात्र पढ़ने के लिये नहीं है, बोलने के लिये नहीं है। हम लोग आजकल जुबानी जमा खर्च करते हैं। गुरु के पास आकर कहते हैं-गुरुदेव! तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि। तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि। तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि-मैं तीन बार आपकी आदक्षिण-प्रदक्षिणा करता हूँ, करता हूँ, करता हूँ।

आपने तीन बार तिक्खुत्तो कहा। पहली बार कहा-तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि यानि तीन बार, आदक्षिण-प्रदक्षिणा करता हूँ। फिर दुबारा कहा-तीन बार करता हूँ और फिर तिबारा कहा, तीन बार करता हूँ। तीन+तीन+तीन यानि नौ बार। नौ बार कह दिया और किया कितनी बार ?

कोई आपसे आकर बोले 'प्रधान जी! मैं आपको एक हज़ार रुपये देता हूँ?' फिर बोले, 'एक हज़ार रुपये देता हूँ।' फिर बोले, 'एक हज़ार रुपए देता हूँ' और देवे कुछ भी नहीं....।क्या होगा? प्रधान जी कहेंगे, 'पता नहीं कैसा आदमी है, कैसा व्यक्ति है? ये बोलता है, एक हज़ार रुपये देता हूँ, देता हूँ, देता हूँ; और देता कुछ भी नहीं।' जैसे ढपोर शंख होता है ना....! ढपोर शंख से कहो-सौ दे दो, तो वो कहेगा-सौ क्यों, हज़ार ले लो। ठीक है, चलो हज़ार दे दो। वो कहेगा, हज़ार क्यों, दो हज़ार लो। उसको बोलो-अच्छा शंख देव, दो हज़ार दे दो। वो कहेगा दो हज़ार क्यों, चार हज़ार ले लो। वो ढपोर शंख है। वो कहता जाएगा कि इतना नहीं, इतना ले लो; मगर देता-वेता कुछ भी नहीं।

ऐसे ही हैं आजकल हम लोग। गुरु के सामने जाकर कहेंगे-गुरुजी! तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि। अब एक बार नहीं, दो बार नहीं, तीन बार कह दिया यानि नौ बार कह दिया है; और करते एक बार भी नहीं....। क्यों? क्योंकि परिक्रमा का विज्ञान भुला दिया गया है। परिक्रमा की क्रिया को स्थानकवासी समाज में तो लगभग छोड़ ही दिया गया।

क्यों छूटी, कब छूटी, कैसे छूटी-यह वर्णन हमारे इतिहास में उपलब्ध ही नहीं है। लेकिन प्रचलित रही है, इसका प्रमाण यह है कि आज भी दिगम्बर साधु जब घर में आते हैं भिक्षा के लिये, तो दिगम्बर उपासक साधु भगवंत के सम्मुख जाकर घर के बाहर ही उनकी तीन बार परिक्रमा करते हैं। परिक्रमा करने के बाद कहते हैं कि 'पधारो, पधारो, पधारो। आहार- पानी प्रासुक है, निर्दोष है; ग्रहण करो।' तब दिगंबर साधु भगवंत उनके घर के भीतर प्रवेश करते हैं। ठीक यही वर्णन अन्तगड़दशांग सूत्र में मिलता है, और भी बहुत-से सूत्रों में वर्णन मिलता है कि जहाँ भी मुनिराज भिक्षा के लिए गए, घर के बाहर खड़े श्रेष्ठी ने देखा, वो सात-आठ कदम लेने के लिये आगे आया, उसने तीन बार गुरु की परिक्रमा की, परिक्रमा करने के पश्चात् विनती की और तब गुरु महाराज उसकी पाकशाला या रसोईघर में प्रविष्ट हुए।

जब तक गृहस्वामी घर के अन्दर प्रवेश करने की आज्ञा न दे, तब तक किसी भी साधु को, किसी भी गुरु को उस गृह स्वामी के घर के रसोईघर तक प्रवेश करने का अधिकार नहीं है। क्यों? क्योंकि साधु, साधु है और गृहस्थ, गृहस्थ है। गृहस्थ के लिए सारे साधु, साधु है, चाहे वे सफेद कपड़े वाले हो,

चाहे वे साधु पीले कपड़े वाले हो, चाहे वे साधु भगवे कपड़े वाले हो-बस वे साधु है। साधु के लिये सारे गृहस्थ गृहस्थ हैं-चाहे वह हिन्दू धर्म को मानने वाले हो, चाहे वह सिक्ख, बौद्ध, ईसाई हो, चाहे वह महावीर उपासक हो, चाहे वह पार्श्वनाथ उपासक हो, किसी के भी उपासक हो।

पहले ज़माने में ऐसा नहीं था कि समणवर्ग यानि आज के संदर्भ में जैन साधु जैनों के घर पर ही भिक्षा के लिए जाए, जैसा आज के ज़माने में है। अब यदि जैन साधु जैनों के घर में ही जाए, तो जैनों ने तो Allow कर ही रखा है कि 'महाराज! जब मर्ज़ी हो चले आना, दरवाजे खुले हैं;' और महाराज जी बिना पूछे दरवाज़ा खोलकर अन्दर चले जाते हैं और उनके उपासक/भक्त बुरा भी नहीं मानते। कहते हैं, ये हमारे गुरु महाराज हैं, 'हमारे' साधु हैं, इसलिये चले आओ। लेकिन कोई दूसरा साधु ज़रा आकर देखे, बिना पूछे घर के दरवाज़े खोलकर घर के अन्दर आ जाए तो....। तो क्या होगा ? 'अरे, बिना पूछे कैसे आ गये ? बाहर खड़े हो जाओ, आवाज़ लगाओ।' पहले ज़माने में कोई साधु किसी के घर के अन्दर तक नहीं जाता था। स्वयं प्रभु महावीर भी नहीं जाते थे। घर के बाहर खड़े होते और आवाज़ लगाते।

हर साधु बाहर खड़ा हो कर आवाज़ लगाता था। जिसे भिक्षा की आवश्यकता है, वे कहा करते थे कि-'भिक्षाम् देहि!' अर्थात् भिक्षा दो। घर के अन्दर से स्त्री-पुरुष, जो भी उनकी आवाज़ सुनते, वो बाहर आते और जिसे जो भिक्षा देनी होती, वे अपने कटोरे में अथवा अपने हाथ में अथवा थाली में रखकर लाते और भिक्षुक को देते थे। लेकिन जब तक गृहपति स्वयं सात-आठ कदम आगे आकर यह न कह दे कि 'गुरूदेव! हमारी भोजनशाला तक पधारो', तब तक कोई भी साधु भोजनशाला तक बिना अनुज्ञा के प्रवेश नहीं कर सकता था। लेकिन आजकल रिवाज़ दूसरे चल गए हैं- महाराज बिना बोले आते हैं, चुपके से आते हैं, चोरों की तरह पैर रखते हैं, किसी को आवाज़ नहीं देते और जाकर देखते हैं कि बहन सूझती है या असूझती है, कहीं संघट्टे में तो नहीं है। लेकिन नियमानुसार महाराज जी बिना आज्ञा किसी के घर में नहीं जा सकते। विधि यही है कि वे बाहर खड़े रहें और आवाज़ लगाएँ, फिर यदि बहन बुलाए तो अन्दर जाएँ, न बुलाए तो दूसरे दरवाज़े (घर) में जाएँ। दूसरे दरवाज़े (घर) के बाहर खड़े रहें-विधि यही है, लेकिन अब मूल विधि के

विज्ञान को तो भुला दिया गया और दूसरे अनेक नए-नए नियमों को add on कर दिया गया।

मूल विधि यही रही है कि बाहर खड़े होकर प्रतीक्षा करो या संकेत दो। जो पदार्थ लाया जाता, उसमें से जितनी आवश्यकता होती उतना ले लिया जाता। क्योंकि Beggars are not Choosers. जो भिक्षा लेने के लिए आया है, वो choose थोड़े ही करेगा? जो आया ही भिक्षा लेने के लिए है, उसको तो जो दिया जाएगा उसमें से उसे जितनी ज़रुरत होगी, जिसकी आवश्यकता होगी वो ग्रहण कर लिया जाएगा, शेष धन्यवाद के साथ अस्वीकार कर दिया जाएगा। जो लिया जाएगा और जो अस्वीकार किया जाएगा, दोनों के लिए ही धन्यवाद दिया जाएगा। दोनों हाल में गुरु आशीर्वाद देकर जाएगा। गुरु वरदहस्त ऊपर करके जाता है। गुरु आशीर्वाद दे कर जाता है। जैसे ही भिक्षा लेता है तो गुरु दुआ देता है। अगर बिना दुआ दिए गुरु चला जाए तो गुरु को उस भिक्षा लेने का कर्ज़ चढ़ता है। इसीलिये साधु को पहले विधि सिखाई जाती थी कि वह कैसे जाएगा और कैसे आशीर्वाद देगा। वह अपने मन से ही, अपने वचन से ही, चाहे इतना ही कह दे-बोधि लाभ हो, धर्म लाभ हो, ज्ञान उपलब्ध करो अथवा जीवन को आनन्द से जीओ-कुछ भी आशीर्वाद दे दे। बिना आशीर्वाद दिए साधु नहीं जाता। साधु है ही वह, जिसके रोम-रोम से सबके कल्याण की किरणें विकीरित होती रहे।

दिगम्बर समाज में आज भी साधु की परिक्रमा होती है। श्वेताम्बर जैन मूर्तिपूजक समाज में भी मन्दिरों में मूर्ति की परिक्रमा होती है। मात्र एक श्वेताम्बर स्थानकवासी समाज ऐसा है, जिसने परिक्रमा के इन पदों को तो रख लिया और अर्थों को भुला दिया। अब जब अर्थ भुला दिए गए तो प्रश्न उठा कि 'परिक्रमा' के लिए लिखा तो गया है, तब फिर इसे करना कैसे? तो हम एक नई विधि से परिचित करा दिए गए कि अपने ही दोनों हाथों को अपने सिर के चारों ओर घुमा दो और समझ लो कि परिक्रमा हो गई।

क्या आप बताएँगे कि जब लिखा है, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि, तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा करता हूँ, तब केवल अपने दोनों हाथों को खुद के ही सिर के चारों ओर घुमाने से परिक्रमा कैसे हो जाएगी..? ज़रा निष्पक्ष होकर सोचिए...। यह मत सोचना कि हम स्थानकवासी हैं इसलिए हम

जो भी करते हैं, वो ठीक ही करते हैं। ऐसा नहीं है। पदों में लिखा है और ऐसा किया भी जाता रहा है। अगर हमने छोड़ दिया है तो कोई बात नहीं, फिर पद बोलने का कोई औचित्य भी तो नहीं। अगर नहीं करनी 'परिक्रमा', तो इन पदों को केवल पढ़ने का कोई औचित्य नहीं। जब परिक्रमा नहीं करनी, तो मिथ्या भाषण क्यों करना? अगर परिक्रमा करनी ही नहीं है तो यहाँ तक का पाठ-तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि-ये पद बोलने की आवश्यकता ही नहीं-यह चार पद जो हैं, वह हकीकत में practically करने की विधि के सूचक है। क्योंकि शब्द है-करेमि। यह पाठ करणानुयोग है, चरणानुयोग नहीं है।

शास्त्रों में कुछ सूत्र करणानुयोग के हैं, और कुछ सूत्र चरणानुयोग के हैं। करणानुयोग यानि क्रियात्मक विधि के हैं, प्रेक्टिकली करने के हैं, विधिपरक हैं और चरणानुयोग यानि भावों से भक्ति में भरने के हैं व भाव दशा बदलने के हैं। तिक्खुत्तो के पाठ में भाव दशा को बदलने के पद हैं-वन्दामि से लेकर कल्लाणं मगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि। ये सारे चरणानुयोग के पद हैं और तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि-ये चार पद करणानुयोग के हैं, क्रियात्मक हैं। शास्त्रों में यह नहीं लिखा हुआ है कि यह पाठ बोला जाए। शास्त्रों में तो लिखा हुआ है कि वे लोग जाते थे, वे तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ करित्ता यानि तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा किया करते थे। अब ये क्रियात्मक बातें हैं, इन बातों को मात्र बोलने से क्या होगा? ये बातें follow करने वाली है- कि वो ऐसा करते थे...., आपको करना हो तो करो, न करना है तो खाली पाठ पढ़ने से क्या हो जाएगा?

हमारा ऐसा कहना है कि केवल अपने सिर के चारों ओर हाथ घुमाना और उसमें भी अलग-अलग गच्छों में अलग-अलग परिपाटी, कोई clock wise घुमा रहा है तो कोई anti clock wise। कोई कहता है गुरू के दायीं ओर से वन्दन करना है तो कोई कहता है खुद के बाईं ओर से, किन्तु ये हाथ घुमाने को 'परिक्रमा' कहना असंगत है। यहाँ गुरू की प्रदक्षिणा करने की बात है। यहाँ अपने हाथों से अपने सिर की परिक्रमा न की जाए। हम जब अपने हाथ घुमाते हैं तो अपने ही सिर के चारों ओर घुमाते हैं। अब सिर के चारों ओर घुमाने से क्या औचित्य है? जिस सिर का, मस्तक का हमें गुरु के चरणों में समर्पण ही कर

देना है, उस सिर के चारों ओर हम हाथ घुमा रहे हैं। फिर लोग कह देते हैं, 'महाराज जी! क्या हो गया, भाव तो हैं हमारे.....' क्योंकि लोगों के पास बहुत सारे विकल्प हैं, जवाब देने के। कह देंगे, 'महाराज जी, ना करें परिक्रमा, परिक्रमा के भाव तो हैं हमारे।' जैसे, प्रतिक्रमण के पाठों में आप कहते हो ना कि '1008 बार वंदना हमारी है।' यद्यपि करते नहीं एक बार भी, फिर भी मात्र बोल देते हो। अगर कोई पूछे कि 1008 बार क्यूँ कहना, तो कह दोगे कि 'भाव तो है ना।' अगर भाव है तो मात्र इतना ही कहो कि भावपूर्वक वंदना है, संख्या को बीच में क्यूँ लाते हो?

आपकी बात हम स्वीकार करते हैं कि अगर आपके परिक्रमा के भाव हैं, तो आप बैठ जाइए, देह से परिक्रमा भले ही न कीजिए। 'भावों' से परिक्रमा कीजिए। भावों से अपने भीतर आज्ञा चक्र पर गुरूदेव का आह्वान कीजिए और पूरे मनोयोग से सूक्ष्म शरीर को बाहर निकालिए, संकल्प शक्ति से, भावों से अपने भीतर से सूक्ष्म शरीर को बाहर निकालो और भावना करो कि वह शरीर गुरु की तीन बार परिक्रमा कर रहा है। परिक्रमा करके वापस आपकी चेतना में समाहित हो गया है। तब आप गुरु को प्रणाम करो। यदि आपकी संकल्प शक्ति दृढ़ है, भावों से परिक्रमा करने की, तो अपने भीतर के वैक्रिय शरीर को जागृत करो। हर मनुष्य के भीतर वैक्रिय शरीर भी मौजूद है, सूक्ष्म सत्ता रूप में है, उस वैक्रिय शरीर की क्षमता को जगाओ और उस वैक्रिय शरीर को आदेश दो कि वह गुरु की परिक्रमा करे; और करेगा वह परिक्रमा। आप का चित्त अनुसरण करेगा। वह तीन बार गुरु की परिक्रमा करेगा और फिर वापिस आपके औदारिक शरीर में आ जाएगा। अब आप गुरु की स्तुति करो।

भावपूर्वक परिक्रमा करने की भी विधि होती है। विज्ञान होता है, तरीका होता है; मगर हम लोग तो सिर्फ रिवाज़ पूरा करते हैं। तोता रटन की तरह मात्र शब्दों को रट लेते हैं, शब्दों को पढ़ लेते हैं और खाली शब्दों को रटना और पढ़ना–इतने मात्र से कल्याण नहीं हो जाता। इतने मात्र से कल्याण हो जाता, तब तो बहुत ही औपचारिक घटना थी।

कहते हैं, एक बार किसी जंगल में कबूतरों का एक दल था। कबूतरों के दल को बड़ी समस्याओं का सामना करना पड़ता था। न जाने कब शिकारी आ जाए और कब कबूतरों को जाल में फँसा कर ले जाए। कबूतरों के दल में

एक समझदार कबूतर था। उसने सारे कबूतरों को एक बात सिखा दी। कहा कि 'तुम एक बात सीख लो ताकि ज़िन्दगी में कभी शिकारी के हाथ में नहीं फँसोगे।' सबने कहा 'ठीक है, सिखा दो।' अब कबूतरों के दल को यह पाठ सिखा दिया गया कि ''शिकारी आएगा, दाना डालेगा, जाल बिछाएगा, मगर हमें फँसना नहीं।'' बड़ी मेहनत करके, बड़ा प्रयास करके, बड़ी हिम्मत करके सारे कबूतरों ने ये पाठ रट लिया-'शिकारी आएगा, दाना डालेगा, जाल बिछाएगा मगर हमें फँसना नहीं।' पाठ सबको याद, सारे कबूतर इसे ही दोहराते जाते जंगल के अन्दर।

एक दिन अकस्मात् एक शिकारी भी पहुँच गया, अपने मित्र के साथ। शिकारी ने वहाँ दाना डालने और जाल बिछाने का सोचा। इतने में ही एक कबूतर बोल पड़ा, 'शिकारी आएगा, दाना डालेगा, जाल बिछाएगा और हमें फँसना नहीं। शिकारी ने कहा अपने मित्र को, 'चलो यार! यहाँ तो अपनी दाल गलनी नहीं, यहाँ तो कबूतर फँसेंगे नहीं। इन्हें तो पहले से ही पता है, ये सब तो ज्ञानी हैं, इसलिये यहाँ कोई फायदा नहीं दाना डालने से, जाल बिछाने से। चलो! किसी और जंगल में चलते हैं।' मित्र बड़ा समझदार था। उसने कहा-'भैया, इतनी जल्दी हार न मानो। हैं तो आखिर ये कबूतर ही, इन्सान थोड़े ही हैं, बड़े-बड़े इन्सान भी फँस जाते हैं जालों में! इनकी क्या चिन्ता करनी, तुम दाना डालो, जाल बिछाओ।' वह बोला-'अरे, मेरा दाना व्यर्थ चला जाएगा, मेरा समय व्यर्थ हो जाएगा।' मित्र ने कहा, 'चिन्ता न करो, तुम काम करो।' इतने में वहाँ बहुत सारे कबूतर आ गए और सब-के-सब यही पाठ दोहरा रहे थे कि शिकारी आएगा, दाना डालेगा, जाल बिछाएगा, और हमें फँसना नहीं। अब शिकारी का सारा हौसला पस्त हो गया। उसने कहा-'कोई फायदा नहीं।' मित्र फिर भी बोला, 'हाँ, यहाँ तो बहुतों को पता है, सबने हमको देख लिया है। चलो! कोई बात नहीं, फिर भी दाना डालो, हिम्मत करो।' सारे कबूतर पाठ बोलते गए, बोलते गए, और दाना देखकर उस जाल में उतर-उतर कर फँसते गए। अपना भजन गाए जा रहे हैं, अपना गीत दोहराए जा रहे हैं और जाल के अन्दर फँसते जा रहे हैं। शिकारी ने जाल समेटा और सारे कबूतरों को लेकर चलता बना।

कितना भी सिखा दो पदों को, शब्दों को; कितने भी अच्छे से अच्छे पद बोल लो, शब्द पढ़ लो, होगा क्या..? पाठ पढ़ने मात्र से अगर कल्याण हो

जाता, तो कबूतरों का हो जाता, तोतों का हो जाता, हमारा..... इन्सान का भी हो जाता, लेकिन नहीं-पाठ पढ़ने मात्र से कल्याण नहीं होता है, पाठ की चेतना को छूना होता है। उसके लिये अपने भावों को बदलना होगा और भावों को बदलने के लिए विज्ञान को जानना होगा। बिना विज्ञान जाने, भाव नहीं आएँगे। इसीलिए, अगर भावों से परिक्रमा करनी है, क्रियात्मक विधि से नहीं करनी है, तो पाठ पढ़ो न पढ़ो, बैठ जाओ, भावों से परिक्रमा करो। अगर पाठ पढ़ना है, तो समझो, ये पाठ पढ़ने का नहीं है, यह सूत्र पाठ पढ़ने व दोहराने के लिए नहीं है, करने योग्य है। यह पाठ पठनीय नहीं है, करणीय है। इसे पढ़ो मत, इसे करो। यह पाठ 'करने' की बात कर रहा है कि हम तीन बार गुरु की आदक्षिण-प्रदक्षिणा करते हैं। कर लो। प्रदक्षिणा करते हुए भी पाठ पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। 'प्रदक्षिणा' व्यक्ति मौन भावों से करता है। पढ़ा भी जा सकता है मगर पढ़ने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह तो विधि का सूत्र है। यह विधि सूत्र है, भक्ति सूत्र नहीं है। भक्ति अथवा स्तुति नहीं है, यह विधि सूत्र है। विधि सूत्र पढ़े नहीं जाते। विधियाँ आचरित की जाती है। तो, तीन बार गुरु की प्रदक्षिणा कीजिए।

अब बात यह है कि किसकी प्रदक्षिणा करें? क्या हर साधु की प्रदक्षिणा की जानी चाहिए? तो ऐसा नहीं है कि हर साधु की प्रदक्षिणा की ही जाती रही हो। यदि आपको लगे कि इन साधु की मुझे उपासना करनी है, इन साधु का ज्ञान, इन साधु का दर्शन, इन साधु का विवेक, इन साधु का चरित्र मेरी आत्मा को छूता है, उत्प्रेरित करता है; अथवा मैं भी साधुता के इन गुणों को उपलब्ध हो जाना चाहता हूँ; तो आप साधु की परिक्रमा करो। ऐसी भक्ति हो, तो करो और यदि नहीं है ऐसी भक्ति, अभी आप एक साधारण श्रोता हैं, वैसे ही किसी साधु महाराज के पास आ गए हैं, तो आप इतना कहकर ही वन्दना कर सकते हो कि 'वन्दना हो, वन्दामि'। मस्तक झुका रहे हो तो कह सकते हो, 'मत्थेण वंदामि', कि मस्तक झुकाकर आपको वन्दना करता हूँ। यह भी वन्दना का एक तरीका रहा है।

वन्दना का एक तरीका यह भी रहा है कि अगर आप कोई साधु महाराज से भेंट करें, मिलें, वे आपके समक्ष आएँ अथवा आप उनके समक्ष जाओ तो आप उनको कहो- 'नमोस्तु। नमोस्तु।' जैसे बोलते हैं ना, नमस्ते। नमस्ते का मतलब होता है आप को नमस्कार हो। 'ते' अर्थात् आपको और नमः

यानि नमस्कार। आप को नमस्कार हो। नमस्ते। पहले ज़माने में बोलते थे ना, नमस्ते। आजकल नहीं बोलते। आजकल हमारे बच्चे बोलते हैं Hello! Hi! अथवा कोई जय जिनेन्द्र, कोई Good Morning-ऐसे अभिवादन करते हैं। पहले कहते थे-नमस्ते। तो, गुरु महाराज को भी कहा जा सकता है-नमोस्तु। दिगम्बर जैन समाज में सारे ही दिगम्बर भाई-बहिन साधु महाराज जी को देखकर कहते हैं- 'नमोस्तु'। अर्थात् आपको नमस्कार हो। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज में अगर साधारणतया, चलते हुए रास्ते में वन्दना करनी है तो कहते हैं-'वन्दामि महाराज जी', सूर्यास्त के बाद कहा जाता है 'त्रिकाल वन्दना महाराज जी,' 'आपको वन्दना हो'। पूरी विधि के साथ तब करते हैं, जब उन्हें चैत्य वन्दन करना हो। जब चैत्य पूजा करनी है तो पूरी विधि करेंगे। तब 'इच्छामि खमासमणो' की पूरी विधि करेंगे।

कई तरीके हैं वन्दना करने के। प्राथमिक वन्दना- गुरु से भेंट होते ही जो की जाती है, वह- 'मत्थेण वन्दामि' है। लेकिन, अगर गुरु की उपासना करनी है, गुरु के समीप बैठना है और बैठ कर गुरु से ज्ञान आदि ग्रहण करना है, सुनना है, तत्व पृच्छा करनी है, शंका का समाधान करना है, तो गुरु की परिक्रमापूर्वक वन्दना भी की जा सकती है। यह वन्दना उपासना करने से पूर्व की जाती है। जब उपासना कर चुके, अब अपने घर जा रहे हो, तब केवल सिर झुकाया जाता है और जाते हुए केवल इतना ही कहा जाता है, 'हे गुरुदेव! आपको सुख साता रहे, आपके ज्ञान-दर्शन-चरित्र आदि गुणों की अनुमोदना करता हूँ और भावना भाता हूँ कि आपके ये गुण हम सबका कल्याण करे।' यह जो शुद्ध भावना भावित की जाती है, यह भी वन्दना है।

आजकल हमारे यहाँ रिवाज़ कुछ और हो गया है। जब व्यक्ति प्रवचन सभा में आता है तब वन्दना करे या न करे लेकिन सभा समाप्ति पर जाते हुए वन्दना करता है। जाते हुए सामूहिक वन्दना की जा रही है, लेकिन हकीकत में जाते समय तिक्खुत्तो के पाठ से वन्दना नहीं होती। जाते समय तो गुरु की स्तुति होगी- 'हे गुरुदेव! आपके ज्ञान-दर्शन-चरित्र गुण की हम अनुमोदना करते हैं। आपके ये गुण पूरे समाज का कल्याण करे। हम सबका भी कल्याण करे और हमारी आत्मा में भी आए।' यह भावना व्यक्त करो। यह भावना अपने आप में वन्दना है, और यह भावना गुरु के गुणों की अनुमोदना है। यह अनुमोदना

आपको गुरू के गुण उपलब्ध करवाएगी। ये गुण आप में भी आएँगे। लौटते समय क्षमायाचना करो व आभार व्यक्त करो। यह भाव व्यक्त करो कि 'हे क्षमासमण गुरूदेव! आपकी पर्युपासना करते हुए मेरे मन-वचन व काया से किसी भी प्रकार की अविनय-आशातना हो गई हो तो आप हम सभी को क्षमा करावें, हमें योग्य बनावें। आपके द्वारा प्राप्त अतिशय ज्ञान के लिए आपका आभार-आभार-आभार!!'

हर इंसान अपनी धुरी पर सतत् घूम रहा है, rotate कर रहा है। इस संसार में हर चीज़ परिक्रमा कर रही है, अपनी-अपनी धुरी पर हर चीज़ घूम रही है। धरती अपनी धुरी पर घूम रही है, सूरज अपनी धुरी पर घूम रहा है और चाँद, सितारे, नक्षत्र-सब अपनी धुरी पर घूम रहे हैं। हर इन्सान भी अपनी धुरी पर घूम रहा है। अपने अन्दर घूमता जा रहा है लेकिन जहाँ वह घूम रहा है, वह स्थान उसकी आत्मा का केन्द्र नहीं है। वह फिर किसी विभाव की परिधि (circumference) है और वह उस वैभाविक परिधि पर ही घूम रहा है। जैसे, हमारा mind एक वर्तुल बनाता जाता है, पुरानी बातों को याद करता जाता है, राग-द्वेष की बातों को सोचता जा रहा है, सोचता जा रहा है; यह परिक्रमा ही तो कर रहा है। लेकिन यदि हमें लगे कि हमें इस तरह की भौतिक व मानसिक आधी-अधूरी इच्छाओं व कामनाओं की परिक्रमाओं से मुक्त होना है, और चैतन्य की परिक्रमा करनी है, अपने स्वभाव आत्मा की परिक्रमा करनी है, आत्मा के शुद्ध रुप की परिक्रमा करनी है-तो उसके लिए हमें उस शुद्ध स्वरुप का दर्शन करवाने वाले, शुद्ध स्वरुप को प्रकट करवाने वाले जो गुरुदेव मिले हैं, उन गुरुदेव की परिक्रमा करनी है ताकि हम भी शुद्ध स्वरुप को उपलब्ध हो सकें। इन भावों से परिक्रमा की जाती है। ये जो निर्ग्रंथ गुरुदेव हैं, ये उस शुद्ध स्वरुप को प्राप्त कर चुके हैं, मैं भी इनकी परिक्रमा करुँ ताकि मैं भी इन वैभाविक परिधियों से मुक्त हो सकूँ और अपने स्वभाव को उपलब्ध हो सकूँ। इसलिए साधक या उपासक गुरु की परिक्रमा करता है।

गुरु दरबार में आते समय जिसे लगे कि मुझे गुरु की परिक्रमा करने का भाव है, वह गुरु से आज्ञा लेकर गुरु की परिक्रमा कर सकता है। परिक्रमा करता हुआ व्यक्ति कोई पाठ नहीं पढ़ता, मौन रहकर भावपूर्वक केवल परिक्रमा कर रहा है। जैसे-जैसे वह गुरु के अवग्रह क्षेत्र की यानि उनके

electro-magnetic field की परिक्रमा करता है, साढ़े तीन हाथ दूरी से। कम-से-कम इतनी दूरी बनाए रख कर जब वह परिक्रमा करता है, तब एक गज़ब की घटना उसके भीतर घटती है।

जैसे ही वह शिष्य गुरु की परिक्रमा करना शुरु करता है तो उसके भीतर जो राग-द्वेष की परिधि का आकर्षण था, उनके साथ जो सम्बन्ध था, जो लगाव बन चुका था, वह लगाव अब हटने लगेगा। वह गुरु के ज्ञान आदि गुणों की भक्ति में समर्पित होकर, उनकी परिक्रमा करता हुआ, उन गुणों की तरफ आकर्षित होगा। हकीकत में 'गुरु' जो है, वह एक magnetic field एक चुम्बकीय वलय के सिवाय और कुछ भी नहीं है। 'गुरु', एक ऐसा चुम्बकीय वलय है, जो हमारे भीतर के लौह तत्व को खींचता है। 'गुरु' गुरुत्वाकर्षण शक्ति से युक्त है। गुरु की शुभ लेश्या, अतिशय, सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि गुणों की जब कोई उपासक भावों से भरकर विधिपूर्वक परिक्रमा करता है, तो उस उपासक की अशुभ लेश्या, सांसारिक राग-द्वेष के विचार, विकार कमज़ोर होते जाते हैं, दूर होते जाते हैं। 'गुरु' उसकी अशुभ लेश्या का हरण कर लेता है और अपनी शुभ लेश्या उसमें transfer कर देता है। यह घटना स्वतः (automatic) घटती है। वैज्ञानिक नियमों के अनुरूप घटती है। जैसे, धरती जब सूर्य की परिक्रमा करती है, तो जैसे-जैसे धरती सूर्य की परिक्रमा करती जाती है, वैसे-वैसे सूर्य से वह Photo-electric energy यानि photons प्राप्त करती है। सूर्य से ऐसे परमाणु प्राप्त करती है कि धरती में उर्वरक क्षमता आ जाती है। धरती में जो उर्वरक क्षमता आती है, वह सूर्य की परिक्रमा करने से आती है। अगर धरती सूर्य की परिक्रमा न करे तो उसमें पैदावार की क्षमता नहीं आएगी। धरती सूर्य की परिक्रमा करती है, तब वह क्षमता उसमें आती है।

शिष्य गुरु की परिक्रमा करता है, तब उसमें ये क्षमता आती है कि उसकी चेतना में ये गुण उपज सके, ये गुण प्रकट हो सके। इसलिये पहले ही कहा गया कि समण संस्कृति का एक अद्भुत विधान रहा है-''परिक्रमा विधि''। समण संस्कृति की एक अमूल्य देन रही है-''परिक्रमा''।

विज्ञान का नियम है कि लघु 'गुरु' की परिक्रमा करे। लघु कौन है? शिष्य लघु है, वह गुरु की परिक्रमा करे। जैसे-जैसे वह परिक्रमा करेगा, वैसे-वैसे उसके भीतर के राग-द्वेष, अशुभ लेश्या, क्रोध-मान-सबकी पकड़

छूटती जाएगी और गुरु के गुण उसे अपनी ओर खींचते जाएँगे। गुरु की परिक्रमा यदि कोई भावपूर्वक कर ले तो उसकी नरक समाप्त हो जाती है, ऐसा वर्णन हमारे शास्त्रों में मिलता है। राजा श्रेणिक ने और क्या किया? राजा श्रेणिक एक सामायिक भी नहीं करता था लेकिन किसी दिन भगवान के समोशरण में गया और भक्ति जग गई, तीव्र भक्ति। उसके मन में भाव जागा कि आज मैं परिक्रमापूर्वक गुरू वंदन करूँ। राजा श्रेणिक प्रभु महावीर को अपना गुरु मानता है। वह जाता है और प्रभु महावीर की परिक्रमा करना प्रारम्भ कर देता है। कथा कहती है कि उस दिन वह परिक्रमा करता ही गया, करता ही गया, करता ही गया; और परिक्रमा करते हुए उसके दिमाग में एक पल के लिए भी कोई विचार नहीं आया। उस परिक्रमा का परिणाम यह हुआ कि उसके नरक गति के बन्धन टूटते चले गए। कैसे टूट जाते हैं, वे नरक गति के बन्धन? आप करो, और खुद अनुभव करो। टूट जाते हैं। पहली परिक्रमा करते-करते ही नरक टूटने लग जाता है। दूसरी परिक्रमा करते-करते ही तिर्यंच छूटने लग जाता है। तीसरी परिक्रमा करते-करते ही मनुष्य और देवलोक की अशुद्धियाँ छूटने लग जाती है और व्यक्ति दिव्य चेतना को उपलब्ध हो जाता है। यह भी एक योग है।

'परिक्रमा' अपने आप में एक योग साधना है। अगर कभी किसी व्यक्ति के ऊपर कोई तांत्रिक प्रयोग हुआ हो और वह शुद्ध भाव से गुरु की परिक्रमा कर ले, तो उसे उन तान्त्रिक बन्धनों को तोड़ने के लिए और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। वह केवल गुरू की परिक्रमा करे। कोई अशुभ नज़र लगी हुई है, कुछ बान्ध रखा है किसी ने, तो वे सारे दोष अपने आप दूर हट जाएँगे। केवल भक्ति-भाव से वह परिक्रमा कर ले। लोग दौड़ते हैं मौलवियों के पास, मुल्लाओं के पास, तान्त्रिकों के पास-मेरी दुकान को किसी ने बाँध दिया, मेरा मकान बाँध दिया, मेरा शरीर बाँध दिया, मेरा यह बाँध दिया, मेरा वह बाँध दिया.....। अरे, बन्धनों से छूटने का उपाय है।

जो बन्धनों से छूटे हुए हैं, उनकी परिक्रमा करो। आप भी बन्धनों से मुक्त हो जाओगे। हम सभी मुक्त हो जाएँगे और जहाँ रहेंगे, वहाँ आनन्दमय होंगे।

ॐ शान्ति! ॐ शान्ति! ॐ शान्ति!!

वन्दना के वद्य सुर में

वन्दना के वद्य सुर में, एक स्वर मेरा मिला लूँ।
समर्पण के शुभ कणों में, यह सुतन मेरा मिला लूँ।।स्थाई।।

बंदिनी आत्मा न भूलूँ, राग में यदि भ्रमित झूलूँ।
मोक्ष गति की आत्माओं में, एक गति मेरी मिला लूँ।।1।।
समर्पण के शुभ कणों में....

सृष्टि की अद्भुत ये बातें, क्षणिक नूतन मुलाकातें।
चित्त सनातन नयेपन में, आत्मपन मेरा मिला लूँ।।2।।
समर्पण के शुभ कणों में.....

सिद्ध के गुणगान कर लूँ, समण बन समभाव धरलूँ।
लोक की अपनत्वता में, योग्यता मेरी मिला लूँ।।3।।
समर्पण के शुभ कणों में....

ना बचे कुछ शेष मन भी, ना इतर हो एक कण भी।
भेद के कैवल्य सुख में, सर्व सुख मेरा मिला लूँ।।4।।
समर्पण के शुभ कणों में.....

वन्दामि.....णमंसामि....

अनेकान्त सृष्टि के अभंगदर्शी आप्त पुरुष एवं उनकी आगम वाणी को भाव वन्दन। उपस्थित भव्य आत्माओं की भव्यता को प्रणाम।

सकल विश्व में हर पदार्थ निरन्तर गति कर रहा है। प्रभु महावीर कहते हैं कि गति धर्म है, गति स्वभाव है, इसीलिये धर्मास्तिकाय का लक्षण भी यही बताया गया। जो गति है, वह धर्म है। जो ठहराव है, जो स्थिति है; वह अधर्म है। अधर्मास्तिकाय का लक्षण बतलाया-स्थिति, और धर्मास्तिकाय का लक्षण बतलाया-गति। संसार में एक भी ऐसा पदार्थ नहीं, एक भी ऐसा परमाणु नहीं, जो निरन्तर गतिशील न हो। हर परमाणु गतिशील है। हर इलेक्ट्रॉन, अपने न्यूक्लियस (nucleus) के चारों ओर घूम रहा है। परिभ्रमण कर रहा है। वैज्ञानिकों के अनुसार जो हमें स्थितिशील दिखलाई पड़ते हैं, वे भी स्थितिशील नहीं है।

एक पत्थर पड़ा है, हमें लगता है बरसों से पत्थर यहीं पड़ा है, बड़ा भारी पत्थर है, किसी ने हिलाया नहीं है। हमें लगता है यह तो ठोस है, यह तो स्थितिशील है लेकिन भौतिक विज्ञान (Physics) कहती है कि यह पत्थर भी स्थितिशील नहीं है। इस पत्थर के परमाणु निरन्तर बदल रहे हैं, निरन्तर गति कर रहे हैं और गति जब बहुत तीव्र हो जाती है तो वह स्थितिवत् भासित होती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो स्थिर है। इसे हम एक उदाहरण से समझें, आप पंखे को चलते हुए देखें। पंखा जब एक नम्बर पर चल रहा है या दो नम्बर पर चल रहा है तो हमें तीन पंखुड़ियाँ दिखाई देंगी। वह धीरे-धीरे चल रहा हो तो तीनों पँखुड़ियाँ अलग-अलग दिखाई देंगी, किन्तु वही पंखा जब पाँच नम्बर पर चल रहा है तो कोई बता सकता है कि पँखुड़ियाँ कितनी है ? यह तो हमें पहले से ही पता है, तीन है, इसलिए हम बता देंगे, अन्यथा कोई बता नहीं सकता। क्योंकि पंखा इतनी तेज़ी से घूम रहा है कि ऐसा लग रहा है मानो स्थिर हो और यदि इससे भी अधिक तेज़ी से पंखे को घुमाया जाए तो वह बिल्कुल स्थिर ही भासित होगा। हवा आएगी लेकिन पता नहीं चलेगा कि पंखा चल रहा है।

वैज्ञानिक कहते हैं कि सारे पदार्थ तीव्र गति से घूम रहे हैं और वह गति इतनी तेज़ है कि लगता है सब कुछ स्थिर है, लेकिन कुछ भी स्थिर नहीं है। उनमें रहे परमाणु प्रतिपल गति कर रहे हैं। गति इतनी तीव्र है कि हमें स्थिति रुप भासित होती है लेकिन यहाँ हर वस्तु परिक्रमा कर रही है।

जीवन एक ऊर्जा है। ऊर्जा बगैर गति के रह नहीं सकती, ऊर्जा गति करेगी ही। माँ छोटे बच्चे को खाना खिला दे, दूध पिला दे, उसके बाद... क्या होता है-क्या बच्चा बैठ जाएगा एक जगह पर ? माताएँ तो यही चाहती है कि अब बच्चे को दूध पिला दिया है तो बच्चा चुपचाप बैठ जाए। लेकिन यह संभव ही नहीं है। जैसे ही बच्चे के पेट में खाना गया, ऊर्जा पैदा हुई; अब बच्चा उछल-कूद करना शुरु, खेलना शुरु, शैतानियाँ करना शुरु हो जाएगा। कुछ तोड़ेगा-कुछ फोड़ेगा-कुछ गिराएगा। माँ चिल्लाती रहती है कि 'अब शान्ति से बैठ जा' लेकिन कैसे बैठ सकता है बच्चा शान्ति से ? अब उसके अन्दर ऊर्जा जो आ गई है, ताकत आ गई है और ऊर्जा कुछ गति न करे, कुछ काम न करे यह संभव नहीं। ऊर्जा है तो गति करेगी ही।

इस संसार में हर चीज़ अपनी धुरी पर घूम रही है। हर परमाणु अपनी धुरी पर घूम रहा है और साथ ही किसी दूसरे परमाणु स्कंध के चारों ओर चक्कर भी काट रहा है। धरती से अंतरिक्ष में जो भी सेटेलाइट्स भेजे जाते हैं, वो पहले धरती के चारों ओर परिक्रमा करते हैं और फिर धरती के वायुमण्डल (atmosphere) को छेद कर अन्तरिक्ष में पहुँचते हैं। यह परिक्रमा करनी ज़रुरी है। अगर परिक्रमा न करे तो atmosphere को छेद कर बाहर जाने की क्षमता (energy) उनके पास नहीं आ पाती। इसलिए वैज्ञानिक नियम है कि जिस चीज़ को बहुत ऊँचा या लम्बी दूर तक फैंकना हो तो पहले उसे गोल घुमाना पड़ता है। जैसे क्रिकेट में एक fast bowler गेंद को अपने हाथ में लेकर उसे ज़ोर-ज़ोर से घुमाता है ताकि वो गेंद में energy, velocity पैदा कर सके और फिर मनवांछित गति से उसे फेंक सके। इसी तरह discus throw या shotput खेल में भी खिलाड़ी अपने हाथ में disc लेकर अपनी जगह पर घूमता है, ताकि वह disc उस खिलाड़ी की परिक्रमा कर सके, और फिर जब वह उसे फेंकता है तो वह लम्बी दूर तक जा कर गिरती है। खिलाड़ी का विजेता होना इस बात पर निर्भर करता है कि वह disc उसकी कितनी और किस तेज़ी से परिक्रमा करे।

जिसे भी ऊपर उठना है, उसे पहले गोल-गोल घूमना पड़ता है। बड़ा विचित्र-सा नियम है यह, ठीक यही विज्ञान 'परिक्रमा का विज्ञान' है-जिस साधक को अपनी प्राण ऊर्जा ऊपर उठानी है, उसे एक high power electro magnetic field के चारों ओर घूमना होता है। जब वह उसके चारों ओर घूमता है तो उसके भीतर की energy भी ऊपर उठने लग जाती है, उसके भीतर की प्राण ऊर्जा भी ऊपर की ओर गति करने लग जाती है। यही कारण है कि हमारे शास्त्रों में, सूत्रों में, परिक्रमा का वर्णन मिलता है।

जिस शिष्य को अपनी प्राणधारा ऊपर उठानी है, वह गुरु की अथवा जिन प्रतिमा की परिक्रमा करे। मन्दिर के गर्भवलय अथवा गुरु के Charged magnetic field की, जब वह परिक्रमा करेगा तो उसका magnetic field भी वहाँ के magnetic field से चार्ज हो जायेगा। यहाँ हम जो परिक्रमा करते हैं, वह गुरु के देह की नहीं करते अपितु गुरु के magnetic field की करते हैं। प्राण शरीर की करते हैं, औदारिक शरीर की नहीं। इस हड्डी-माँस की परिक्रमा नहीं हो रही है। परिक्रमा हो रही है गुरु के प्राणमय कोष की, गुरु की प्राण ऊर्जा की, गुरु के चारों ओर जो उनका powerful magnetic field है, जो उनका शुभ लेश्या वलय है, उसकी परिक्रमा हो रही है। गुरु निरन्तर आत्मा में मस्त है, ज्ञान में मस्त है, दर्शन में मस्त है और राग द्वेष से रहित है, सारे जीवों के कल्याण की भावना से ओत-प्रोत है। उनके भीतर सतत सह-अस्तित्व का भाव प्रवाहित है। ऐसे निर्ग्रन्थ गुरुओं का जो लेश्या वलय है, वह बड़ा पवित्र है, दिव्य है।

चूँकि हमारे लिए अरहन्त साक्षात् नहीं, सिद्ध साक्षात् नहीं, हमारे लिए जो साक्षात् है वह तो गुरु है, और गुरु वाणी का जो स्रोत है, वह भी गुरु है। अर्हन्तों की वाणी का जो स्रोत है, जो गंगोत्री है, वह भी हमारे लिए गुरु है। इसीलिए हम गुरु की परिक्रमा करते हैं। कई लोग पूरे मंदिर की परिक्रमा करते हैं तो कई लोग मंदिर जिस पर्वत पर बना है, उस पहाड़ी की परिक्रमा-प्रदक्षिणा करते हैं। कई मात्र गर्भगृह की, जिसमें चैत्य प्रतिष्ठित है, मूर्ति विराजमान है उसी की परिक्रमा करते हैं। मुस्लिम लोग काबा के पवित्र पत्थर की परिक्रमा करते हैं, इसके लिए हज़ की यात्रा करते हैं। हिन्दू धर्म में कई लोग गोकुल ब्रजभूमि की, गोवर्धन पर्वत की परिक्रमा करते हैं।

महर्षि रमण भी सबको प्रदक्षिणा के लिए प्रोत्साहित करते थे। एक

बार किसी ने उनसे प्रदक्षिणा के महत्व के बारे में प्रश्न किया, तब महर्षि ने उन्हें बताया, 'प्रत्येक के लिए प्रदक्षिणा करना अच्छा है। प्रदक्षिणा में उसका विश्वास है या नहीं, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। जिस प्रकार अग्नि छूने से जलाती है चाहे छूने वाले का विश्वास हो या नहीं, ठीक उसी प्रकार पर्वत सबका भला करता है जो उसकी परिक्रमा करते हैं।' देखा गया है कि पर्वत की प्रदक्षिणा हो अथवा मंदिर की, अपने इष्ट स्थल की, गुरू की समाधि स्थल की अथवा साक्षात् गुरू देह की; प्रदक्षिणा करने वाले चुम्बकीय आकर्षण का अनुभव करते हैं।

कई बार ऐसा तीव्र विद्युतीय अनुभव गुरूदेव की प्रदक्षिणा करते हुए हमें भी हुआ। मानो कोई बिजली-सी पूरी देह में व्याप्त हुई। हम गुरूदेव की परिक्रमा करते जा रहे थे और प्राणों की एक तीव्र धारा पैर के तलुवे से प्रविष्ट होती हुई पूरे शरीर को व्याप्त करती हुई, सिर तक प्रवाहित हो रही थी। प्राणों के उर्ध्वगमन का साक्षात् अनुभव आत्मज्ञानी पूज्य श्री विराट गुरूजी की शुभ्र आभावलय से हमें हो रहा था। ऐसे अनेकों अनुभवों ने गुरूदेव के तेजोमय रूप का अभौतिक स्पर्श कराया।

सचमुच, प्रदक्षिणा एक रूपान्तरणकारी प्रक्रिया है। इसकी महिमा प्रत्येक धर्म व संस्कृति में किसी न किसी रूप में मिल ही जाएगी। परिक्रमा शांति से, ध्यानपूर्वक, धीमे-धीमे की जाती है। इसे मन में किसी भी प्रकार की चिंता रखे बिना करना चाहिए। चाहे प्रदक्षिणा की यात्रा कितनी ही लंबी अथवा छोटी हो, इसे जितने भक्ति भावों से, आनंदपूर्वक किया जाएगा-यह उतना ही अधिक चुंबकीय आकर्षण प्रगट कराएगी। एक बार कोई व्यक्ति प्रदक्षिणा से होने वाले आनंद से जुड़ गया तो फिर वह उसे कभी नहीं छोड़ता है।

साधक अथवा उपासक, जो उपासना स्थल पर आता है, गुरु द्वार पर आता है, द्वार के भीतर प्रवेश करता है; तो वहाँ पहले से ही ऐसी व्यवस्था बनी होती है कि गुरु महाराज जहाँ विराज रहे हैं; प्रतिमा जी जहाँ विराजमान है अथवा गुरुग्रंथ साहिब जहाँ विराजमान है, उसके चारों ओर परिक्रमा के लिए स्थान छोड़ा हुआ होता है। हम सभी ने समवशरण के चित्र बने हुए देखे होंगे। समवशरण के चित्र कैसे बने होते हैं? भगवान किधर विराजमान होते हैं? मध्य में। भगवान की देह स्थिति सदैव मध्य में होती है और उनके चारों ओर तीन

परकोटे होते हैं। उनमें से जिन्हें परिक्रमा करनी होती है, वे ही पहले परकोटे तक जाते हैं। जिन्हें परिक्रमा नहीं करनी होती, केवल उनके दर्शन वन्दन करने होते हैं, उनकी वाणी सुननी होती है, वे तीसरे और दूसरे परकोटे में ही रूक जाते हैं। वे वहीं पर बैठ जाते हैं। जिन्हें लगता है कि भगवान मेरे धर्माचार्य हैं, मेरे धर्मोपदेशक हैं, केवल वे ही परिक्रमा के लिए आगे तक जाते हैं।

हमारे शास्त्रों में परिक्रमा संबंधी बहुत प्यारा वर्णन मिलता है। छेद सूत्रों में एक सूत्र है:-दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र। उसमें वर्णन आता है राजा श्रेणिक का। राजा श्रेणिक भगवान का अनन्य उपासक था। कहते हैं, उसके रोम-रोम में भगवान महावीर के लिए भक्ति और समर्पण था। जब समर्पण जागा, तो पूरा ही जागा, जब तक नहीं जागा तो वह पूरा ही विरोधी था। अक्सर जो पूरे विरोधी होते हैं, वे पूरे ही भक्त बन जाते हैं और जो अधूरे भक्त होते हैं, वे कभी-कभी विरोधी भी बन जाते हैं।

जीवन में कुछ घटनाएँ ऐसी होती है जो पूरी होती है, तो ही होती है। पूरी नहीं होती है तो होती ही नहीं है। जैसे प्रेम; प्रेम होगा तो पूरा होगा। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि मुझे आपसे थोड़ा तो प्यार है, थोड़ी नाराज़गी है। थोड़ा तो प्रेम है आपसे-क्योंकि आप थोड़े तो अच्छे हो लेकिन थोड़े अच्छे नहीं लगते क्योंकि थोड़े समझ में नहीं आते। थोड़ा मैं पसन्द नहीं करता आपको। ऐसा नहीं हो सकता। प्रेम होगा, तो सर्वतः होगा, सर्वतोभावेण होगा; क्योंकि प्रेम स्वीकार है। विधेयात्मक है। प्रेम में व्यक्ति दूसरे को स्वीकार करता है और जब हम किसी को स्वीकार करते हैं, तो अधूरा नहीं कर सकते। उसे पूरा ही स्वीकार करना होता है। हम एक छोटा-सा सिक्का भी हाथ में लें तो ऐसा नहीं कह सकते कि सिक्के के एक पहलू को तो हाथ में लेंगे लेकिन दूसरे पहलू को हाथ में नहीं लेंगे। क्योंकि सिक्के का एक पक्ष तो सुन्दर है किन्तु दूसरा मेरे काम का नहीं। दूसरा पक्ष सुन्दर नहीं है क्योंकि उस पर जो चित्र बना है, वह मुझे पसन्द नहीं। इसलिये मैं दूसरे पहलू को हाथ में नहीं लूँगा। Is it possible ? जब सिक्का हाथ में लोगे तो उसके दोनों पहलू साथ में आएँगे ही।

जब आप किसी से सम्बन्ध जोड़ोगे तो उसकी अच्छाईयाँ और उसकी बुराईयाँ-दोनों मिलेगी। अब आप कहें कि मैं आपकी अच्छाईयों से तो प्यार करूँगा, अच्छाईयों से तो सम्बन्ध जोड़ लूँगा लेकिन आपकी बुराईयों से मैं घृणा

करता हूँ। चूंकि मैं आपकी बुराईयों से घृणा करता हूँ तो मैं आपको प्रेम नहीं दे सकता। नहीं! यदि प्रेम है तो पूरा है। प्रेम में कोई शर्त नहीं होती। प्रेम में कोई conditioning नहीं होती, कि ऐसी-ऐसी conditions तुम निभाओगे तो प्यार है और मेरी ऐसी conditions ना निभाओगे तो प्यार नहीं।ऐसे ही, जब समर्पण होता है तो पूरा होता है।

राजा श्रेणिक विरोधी था, तो पूरा विरोधी था। साधु दिख भी जाए तो मुँह फेर लेता लेकिन अनाथी मुनि के संपर्क में आने के बाद जिस दिन झुक गया, तो पूरा ही झुक गया। गज़ब का भक्त हुआ वह प्रभु वीर का। एक दिन वह अपने नगर के बाहर स्थित उद्यान के उद्यानपालक और कर्मचारियों को बुलाता है और बुलवा कर आदेश देता है कि मेरे धर्माचार्य धर्मोपदेशक समण भगवान महावीर स्वामी वहाँ आने वाले हैं। अगर वो आ जाए तो मुझे इसकी सूचना दे देना। क्योंकि भगवान महावीर स्वामी, गुरु भगवन्त जब भी आते थे, नगर के बाहर ही ठहरते थे। नगर के अन्दर नहीं आते थे। इसके पीछे भी कई कारण हैं।

आप देखो, दूर की चीज़ हमेशा आकर्षित करती है और वही चीज़ अगर हमें घर बैठे मिल जाए, घर के पास ही आ जाए तो हमारी नज़र ही उसकी तरफ न जाए। क्योंकि आदमी पास को नहीं देखता, आदमी दूर को आसानी से देख सकता है।सम्मेत् शिखर आपके शहर से दूर है।आप सब लोग चाहोगे कि एक दिन यात्रा करने ज़रुर जाऊँ। तीर्थ स्थली दूर है, तो चाहोगे यात्रा करने जाऊँ। गुरु महाराज गाँव के बाहर ठहरे हैं तो चाहोगे दर्शन करने जाऊँ और आपके बाज़ारों के बीच आकर बैठ जाए गुरू भगवन्त, तो कहोगे -यहीं तो है। जब फुर्सत होगी, तब चले जाएँगे; और वो फुर्सत कभी मिलने की नहीं। जो चीज़ पास है, उसका आकर्षण नहीं है।जो चीज़ दूर है, उसका आकर्षण है मन के अन्दर।इसीलिये लोग बसें भर-भर कर यात्रा करने चले जाते हैं और बाहर जाते हैं तो बड़ी विनती करते हैं, 'महाराज! हमारे गाँव ज़रुर पधारना, हमारे शहर ज़रुर पधारना।' और वही महाराज जब शहर में आ जाते हैं तो जितनी बसें भर कर यात्री आए थे, उनसे आधे यात्री भी उनको सामने नहीं मिलते।कहते हैं, 'महाराज जी, अभी तो आप आए हो। अभी आप ठहरो। हमें तो अभी फुर्सत नहीं है। अभी दुकान सँभालनी है। अभी मकान सँभालना है। अभी बाज़ार में

काम है।' दूर है तो आकर्षण है।पास है तो आकर्षण नहीं है।

जीवन के उच्चतर मूल्यों को हमेशा जीवन के क्षेत्र से कुछ दूरी पर, कुछ ऊँचाई पर रखना चाहिए। तभी व्यक्ति की आँखें वहाँ तक उठ सकेंगी। इसीलिए मन्दिर हमेशा शिखर पर बनाए जाते थे, और कोई कारण नहीं है। नीचे भी तो बना लो, तलहटी में मन्दिर बना लो; फर्क क्या पड़ना है? जिसे दर्शन करने है, वो नीचे ही दर्शन कर लेगा। लेकिन पुराने लोग जानते थे-मनुष्य के मन की नब्ज़ को पहचानते थे। इसलिये जब भी कोई मन्दिर बनाना होता और उस मन्दिर को प्रसिद्ध करना होता, तो अवश्य ही वे मन्दिर को बहुत ऊँचाई पर बनाते थे ताकि आदमी बड़ी कठिनाई से वहाँ पर पहुँचे; और जिस जगह पर आदमी कठिनाई से पहुँचता है, उस जगह के लिए आदमी के मन में बरबस एक आकर्षण होता है। उसे लगता है, बहुत पवित्र स्थल है। साधना का दिव्य स्थल है। देवी का बड़ा चमत्कार है यहाँ पर तो। और, वही देवी घर में बैठा लो..., घर में मन्दिर बना कर वहीं देवी बैठा लो-चमत्कार खत्म। फिर कोई आकर्षण नहीं, फिर कोई चमत्कार नहीं, क्योंकि रोज़ उठते ही देवी सामने नज़र आ जाती है।

इसीलिये प्राचीन मनीषियों ने मना किया कि घर में मन्दिर मत बनाना। घर को मन्दिर बनाओ, घर में मन्दिर मत बनाओ। घर को मन्दिर बनाओ। घर में रहने वाले सब लोगों को भगवान बनाओ। भगवान की तरह उनकी पूजा-अर्चा-सेवा करो; लेकिन घर में मन्दिर मत बनाओ। मन्दिर दूर हो, ताकि आदमी को यात्रा करके, चल कर जाना पड़े; और जिस चीज़ के लिये आदमी मेहनत करेगा, अपना श्रम देगा, अपने शरीर से चल कर जाएगा, वहाँ आदमी के मन में स्वतः ही झुकने की भावना आएगी। वहाँ थोड़ा समर्पण आएगा। जो चीज़ उसे बिना श्रम के अथवा मुफ्त में मिल जाएगी, जो चीज़ उसके घर deliver हो जाएगी तो उसका महत्व, उसका आकर्षण खत्म हो जाएगा। दूरी आकर्षण पैदा करती है और जैसे ही निकटता आ गयी, वैसे ही रस खत्म। मन का स्वभाव ही ऐसा है।

तो भगवान महावीर स्वामी भी आए और नगर के बाहर ठहरे। राजा ने कहलवा रखा था, पहले से ही। अतः जो उद्यान पालक था, उसने जब देखा कि एक दल आया है साधु-सन्तों का। तो वो उनके पास गया, उन्हें

वन्दना-नमस्कार की और पूछा कि आपका क्या नाम है? क्या गौत्र है? और कहाँ से विचरण करते हुए आए हैं? जब उसने जाना कि ये तो भगवान महावीर स्वामी हैं, जो हमारे राजा के गुरु हैं तो उन्होंने राज दरबार में जाकर राजा को तीन बार झुक कर-पहले रिवाज़ था कि राजा के दरबार में कोई भी जाता, तो तीन बार ज़मीन को स्पर्श करता, तीन बार मत्था झुकाता, तो उसने तीन बार झुककर प्रणाम किया, फिर कहा कि 'राजन्! आपके धर्माचार्य, धर्मोपदेशक समण भगवान महावीर पधार चुके हैं।' सूत्रों में वर्णन आता है कि तब राजा अपने अन्तःपुर के साथ दलबल सहित अंगरक्षक सेना के साथ भगवान महावीर के दर्शन के लिये गया। वह उद्यान पालक, कर्मचारी, दरबारी-सब लोग राजा के साथ है। राजा ने वहाँ जाकर भगवान महावीर की तीन बार परिक्रमा की और स्तुति की। बाकी सबने केवल वन्दन-नमस्कार किया।

स्पष्टतया वर्णन आता है सूत्रों में कि जिसे लगे कि ये मेरे गुरु हैं, जिसे लगे ये मेरी आँखे खोलने वाले हैं, मुझे जीवन का दर्शन देने वाले हैं, मुझे राग-द्वेष मुक्त होने का जिन्होंने ज्ञान दिया है, मुझे जीना सिखाया है-वह तो परिक्रमा सहित वन्दन करता है और जिन्हें लगता है ये तो मेरे राजा के गुरु है। वह केवल वन्दना-नमस्कार करता है। इसीलिए वन्दना के दो हिस्से हो गए। एक है, परिक्रमायुक्त वन्दना और दूसरी, स्तुतिगान रुप वन्दना, केवल भक्ति भावों का समर्पण। एक करणानुयोग और दूसरा चरणानुयोग।

करणानुयोग के चार पद हैं। तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं और करेमि। ये चारों पद क्रियात्मक विधि सूत्र हैं। ये चारों पद बोलने के नहीं है, करने के पद हैं। पढ़ने के नहीं है। ये चारों पद करण पद हैं। जिसे लगे कि हमें परिक्रमा करनी है, हम भी अपनी अशुभ लेश्या को दूर करना चाहते हैं और गुरु की शुभ लेश्या प्राप्त करना चाहते हैं। हमारी प्राणधारा, जो नीचे की तरफ बहती है, वो ऊपर की तरफ उठे, क्योंकि प्राणधारा की दो गति है:-या तो उर्ध्वगमन या अतिपात। जब उर्ध्वगमन होता है, तो व्यक्ति का ध्यान में प्रवेश होता है। व्यक्ति के अन्दर की सोई शक्तियाँ जागती है और उसकी चेतना राग-द्वेष से मुक्त बनती है। जब भाव धारा नीचे गिरने लगती है तब प्राणों का अतिपात होता है, व्यक्ति का मन विषय-वासना-विकार में रमण कर रहा होता है। अतिपात तो साधारणतया हो ही रहा है। सांसारिक व्यक्तियों को प्राणों का

अतिपात करने के लिये कुछ करना ही नहीं पड़ता। उनकी आदत पड़ चुकी है राग-द्वेष करने की, लड़ाई-झगड़ा करने की, क्रोध-मान करने की, माया-लोभ करने की; अतः अतिपात तो सहज होता है लेकिन उर्ध्वगमन अब ज़रा मुश्किल हो गया है हमारे लिए। क्योंकि उर्ध्वगमन के लिये हम लोग सभान नहीं है। हम लोग सजग नहीं है।

तो, विधान यह था कि जो पर्युपासक गुरु के पास बैठ कर ज्ञान सीखने के लिए, उनकी आराधना करने के लिये उनके समीप गया है, वह गुरु को दाहिने हाथ की ओर रखता हुआ गुरु के दाहिने ओर से परिक्रमा करता है-आयाहिणं, पयाहिणं। आदक्षिण, प्रदक्षिणा। गुरु मेरा दायाँ अंग है। गुरु मेरे लिए आराधनीय है। गुरु मेरे लिये पूजनीय है। गुरु परम योग्य है। इसीलिए शब्द है-दक्षिण। आप देखो, यह दक्षिण शब्द हर जगह आता है। जहाँ-जहाँ गुरु-शिष्य की परम्परा होगी, वहाँ दक्षिणा शब्द आएगा। शिष्य गुरु को दक्षिणा देता है। अब इसका साधारण अर्थ हम लोग करते हैं, दक्षिणा देता है यानि कुछ न कुछ भेंट चढ़ाता है। हिन्दू परम्परा में जब भी कोई शिष्य गुरु के पास जाता है, गुरु से कुछ सीखता है, पढ़ता है तो गुरु को दान-दक्षिणा ज़रुर देता है। रूपए चढ़ाएगा, फल चढ़ाएगा, वस्त्र चढ़ाएगा, जो भी आवश्यक सामान है, वह गुरु को देता है। कहते हैं यह दक्षिणा दी उसने। लेकिन दक्षिणा यह ही नहीं है। यह तो द्रव्य दक्षिणा है। भेंट दक्षिणा है। गुरु के सत्कार में, सम्मान में दी गई कुछ वस्तुएँ हैं। लेकिन भावतः दक्षिणा होती है गुरु को अपने दक्षिण में रखना।

दक्षिण अंग में आदमी उसी को रखता है जिसकी आज्ञा में वह रहने के लिये तैयार हो। इसलिए शिष्य जब भी गुरु की उपासना करता है, तो वह गुरु के बाईं ओर बैठता है। प्रवचन सभा की बात अलग है। यहाँ बैठने की जैसी व्यवस्था होगी, सब वैसे ही बैठेंगे। किन्तु यदि गुरु से ज्ञान सीखना हो, गुरु से अपनी जिज्ञासाओं का समाधान करना हो, गुरु की भक्ति करनी हो; तो गुरु के हमेशा बायीं ओर बैठा जाता है। दायीं ओर नहीं बैठा जाता। कोई भी स्त्री पुरुष के बायीं ओर बैठती है, दायीं ओर नहीं बैठती। वह अपने पति को हमेशा दाहिने रखती है और स्वयं बाएँ रहती है। पति, जिसकी आज्ञा में उसे रहना है, पति उसके लिए पूजनीय है, पति उसके लिये Boss है, तो उसको वह हमेशा दाहिने

ओर रखेगी। स्वयं उसका बायाँ अंग बन कर रहेगी। बायाँ अंग, अर्धांग बन कर रहेगी, लेकिन रहेगी बाएँ में। तो, शिष्य भी गुरु के हमेशा बायीं ओर बैठता है। और गुरु को हमेशा अपने दाहिनी ओर रखता है। इसके लिये सूत्र का शब्द है-आदक्षिण-प्रदक्षिणा, आयाहिणं-पयाहिणं। अर्थात् गुरु के दाहिने ओर से बायीं ओर गमन करना, परिक्रमा करना। हाथ जोड़ते हुए वह यह भाव करता है कि हे गुरुदेव! जैसा आपका शुभ लेश्या वलय है, आपके भीतर में वीतरागता है, वैसी वीतरागता मुझमें प्रवेश करे। मैं भी गाँठों से रहित बनूँ। मैं भी इन जटिलताओं से मुक्त बनूँ। यह भाव करता हुआ व्यक्ति परिक्रमा करता है।

परिक्रमा की विधि हमने पहले जानी, कि कैसे चैत्य वंदन करते हुए अथवा साक्षात् गुरूदेव के दर्शन-वंदन के समय उपासक एक परिक्रमा करता है, फिर श्वास छोड़ता है। फिर श्वास भरता है, फिर दूसरी परिक्रमा करता है। दूसरी परिक्रमा करता है फिर श्वास छोड़ता है। फिर श्वास भरता है और उसी स्थिति में तीसरी परिक्रमा करता है। तीनों परिक्रमा करने के बाद वह गुरु के समक्ष खड़ा होकर गुरु की स्तुति करता है, और स्तुति करते हुए कहता है-वन्दामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि, कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं। ये पद स्तुति के पद हैं। स्तुति महत्वपूर्ण है, वह किन पदों के माध्यम से की जा रही है, किस भाषा में की जा रही है यह बहुत महत्वपूर्ण नहीं है। किन्तु यहाँ हम स्थानकवासी आम्नाय में प्रचलित 'गुरूवंदन सूत्र-तिक्खुत्तो' के पाठ का आख्यान कर रहे हैं, इसलिए हम वंदामि आदि पदों का अभिगम करते हैं।

'वन्दामि' कहते हुए वह सचित्त त्याग नाम का पहला अभिगम करता है। वन्दना करने का मतलब है कि मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ। जब आपके घर में कोई त्यौहार होता है, कोई function होता है तब आप घर के बाहर वन्दनवार लगाते हैं, जहाँ लिखा होता है-सुस्वागतम्। लगाते हैं ना वन्दनवार! यह वन्दनवार क्यों है? इसलिए है, कि जो आएगा उसके प्रवेश के लिये मेरा दरवाज़ा खुला है। मैंने आज सबको निमन्त्रित किया है। आज सब मेरे घर में प्रवेश करें, इसलिये मैंने वन्दनवार लगाया है। ऐसे ही, शिष्य गुरु को कह रहा है 'वन्दामि' यानि मेरे दिल का दरवाज़ा आपके लिये खुला है। आप आएँ और मेरे हृदय में प्रवेश करें। आप आएँ और मेरे जीवन में प्रवेश करें। गुरु ज्ञान रुप, गुरु दर्शन रुप, गुरु प्रकाश रुप, गुरु दिव्य रुप, गुरु आनन्द रुप आएँ, और मेरे

जीवन में प्रवेश करें; इसलिये वह कहता है–वन्दामि।

वन्दामि इस भाव का द्योतक है कि मैं आपका अभिवादन करता हूँ। अब वह कहता है 'णमंसामि'। देखो, प्राकृत शब्द में इसका अर्थ करें तो 'णमंसामि' अर्थात् मैं नहीं हूँ। ण अहं सामि–हे स्वामी, अब मैं नहीं हूँ। अब आप ही मेरे लिये महत्वपूर्ण हो। मैं अपने इस मस्तिष्क का, अपने इस अहंकार का समर्पण आपके समक्ष करता हूँ। इसलिये णमंसामि कहते हुए automatically शिष्य का सिर झुक जाता है। गुरु के चरणों में शिष्य का सिर automatically झुक जाता है। ण मम् सामि–मेरा कुछ भी नहीं। जो कुछ है, गुरुदेव आपको अर्पित है। अब गुरु कुछ भी माँगे तो शिष्य सब कुछ दे सकता है। गुरु माँग ले, शीश दे दो; तो शिष्य शीश भी दे दे। ऐसा भाव घटित हो जाए तो गुरु की आज्ञा शिष्य के अन्तःस्तल तक पहुँच जाती है। और तब गुरु शिष्य पर काम कर सकता है। जब तक शिष्य अपने शीश का समर्पण गुरु के सम्मुख नहीं करता है, णमंसामि नहीं करता; तब तक गुरु शिष्य के लिये कुछ नहीं कर सकता। समर्पण से एक रास्ता खुलता है–कि गुरु आए और मेरे भीतर के विकारों को दूर करे। मैं एक अनगढ़ पत्थर हूँ, गुरु आए और मुझे छैनी से छेदे, मुझे काटे, तराशे और मेरे भीतर की मूर्ति को भी प्रकट कर दे।

हर पत्थर में मूर्ति है किन्तु केवल वही पत्थर–जो मूर्तिकार के चरणों में समर्पित हो जाता है, जो मूर्तिकार के हाथों में पड़ जाता है, जिस पर मूर्तिकार की निगाह पड़ जाती है–केवल वही पत्थर मूर्ति का रुप ले पाता है। प्रतिमा का रूप सोया तो सबके अन्दर है। मूर्ति का रुप सारे पत्थरों में सोया है, लेकिन सारे पत्थर मूर्ति नहीं बनते। मूर्ति वे ही पत्थर बन पाते हैं जो 'णमंसामि' की अवस्था में आते हैं। जो इतने झुक जाते हैं, इतने समर्पित हो जाते हैं कि छेदो.... भेदो.... तराशो.... जो मर्ज़ी हो.... करो। और यही तो मज़ा है ज़िन्दगी का कि 'जब हम थे तब तक वो नहीं और जब वो आया तो हम नहीं।' जब वो आया, हम नहीं। यानि णमंसामि–अब मैं नहीं। प्राकृत अर्थ बता रही हूँ। वैसे इसका साधारण अर्थ है नमस्कार करना। इसीलिये णमंसामि कहते हुए व्यक्ति अहंकार का विसर्जन कर देता है; दूसरा अभिगम पूरा हो जाता है। जब बोलो, तो ठहर कर बोलो। फटाफट मत बोलो वन्दामि णमंसामि। कहीं नहीं दौड़ना है। किसी और को नहीं दिखाना है। केवल अपने भावों में attentive होना है। भावों में आना है।

भावों में सजग बनना है।

णमम् सामि करने के बाद कहता है शिष्य-सक्कारेमि, सम्माणेमि। हे गुरुदेव! आपका सत्कार हो, आपका सम्मान हो। मेरे द्वारा आपको सत्कार हो, सम्मान हो; यानि कि आप आदरणीय हैं, आराध्य हैं, मैं अपना मान आपको समर्पित करता हूँ। आपको साता मिले, ज़रा भी असाता न मिले। ज़रा भी कष्ट न हो। फिर खड़ा होकर वह कह रहा है-कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं-ये चार पद। ये चारों पद चार शरण ग्रहण करने के प्रतीक रूप हैं। चार शरण, जो हम सब को प्राप्त होते हैं-अर्हंत का शरणा, सिद्ध का शरणा, साधु का शरणा और धर्म का शरणा। अर्हंत का शरणा, हम बोलते हैं अरहंते सरणम् पवज्जामि-कि हे अर्हन्त! आत्म योग्यता! मेरे जीवन की परम योग्यता! मैं आपकी शरण में प्रव्रजित होता हूँ। मैं आपकी शरण को स्वीकार करता हूँ। और वह योग्यता मेरे लिए साक्षात् कहाँ हो रही है? 'गुरु' में प्रत्यक्ष हो रही है। क्योंकि 'गुरु' में योग्यता प्रकट है। अतः शिष्य कहता है 'गुरु' को 'कल्लाणं' अर्थात् मेरे लिए आप कल्याण रुप हो। कल्याण कहते हैं प्रभात को। जब सूर्य उदय होता है, जब प्रभात होता है, उसको बोलते हैं कल्याण।

आप लोगों ने सुना होगा कई गुरुओं के नाम के आगे हम लगाते हैं प्रातः स्मरणीय, परम पूज्य गुरुदेव, यह जो प्रातः स्मरणीय शब्द है, यही कल्लाणं पद का अर्थ है। क्योंकि कल्याण कहते हैं-कल्ये-अणति इति कल्लाणं यानि जो प्रातःकाल को लाता है, वह कल्याण। मेरे जीवन में प्रभात को लाने वाला कौन, मेरे जीवन की प्रातःकाल कौन? 'गुरू'! मेरे जीवन की प्रातःकाल गुरु है, जो मेरे भीतर अज्ञान की रात्रि का अन्त करके ज्ञान सूर्य उदित करते हैं, वह 'गुरु' हैं। इसीलिये शिष्य कहता है, कल्लाणम्। आप मेरे लिए कल्याण रुप हो। साक्षात् अरहंत का शरण मैं आप में स्वीकार करता हूँ। अरहंत अर्थात् आत्मा की योग्यता। योग्यता की शरण मैं आप में पाता हूँ। यह कहते हुए शिष्य उस भावदशा में पहुँच जाता है जहाँ सृष्टि की समस्त योग्यताओं के साथ में उसका सम्पर्क स्थापित होता है।

यह पद द्वार है। ये पद उन भावों के प्रतीक हैं। इन पदों को कहते हुए हम उस भावधारा में जाएँ। उस भाव धारा में जाकर यह पद हमारे मुँह से निकले तो ये पद सत्य है और उस भाव धारा में गए बिना ये पद निकले तो औपचारिक हैं।

शब्दों का अपना कोई मूल्य नहीं है। शब्द कहाँ से उत्पन्न हो रहा है, किस भाव धारा से निकल रहा है, वह उस शब्द को मूल्य प्रदान करता है। आप देखो न, कोई दोस्त, कोई हमारा प्रेमी हमें प्यार से गाली दे, हमें बुरा लगता है? नहीं लगता। और कोई दुश्मन, वह हमें वही शब्द कहे जो हमारे दोस्त ने हमें प्यार में कहे थे, तब कैसा लगेगा। हमारे पूरे शरीर में द्वेष की अग्नि भड़क जाएगी। इतना क्रोध आएगा... तेरी यह मज़ाल मुझे ऐसा कह दिया। वही तो शब्द था, जो आपके प्रियजन ने कहा था, तब बुरा नहीं लगा; लेकिन वो ही शब्द, कोई दुश्मन कह दे, तो बदला लेने की ठान लेते हैं हम। शब्द का मूल्य नहीं है। शब्द कहाँ से आया है? किस भाव धारा से शब्द निकला है? किस चेतना से शब्द निकला है? वह कारण है-कि शब्द हमें अच्छा लगेगा या बुरा लगेगा। वरना प्यार में लोग कौन एक-दूसरे को गाली नहीं देते? दे ही देते हैं। दोस्त भी दे देते हैं दोस्तों को, लेकिन तब वे गालियाँ गालियाँ नहीं लगती। वे प्रेम में कहे गए वाक्य ही लगते हैं, प्रेम के ही शब्द लगते हैं।

हमने कल्याण शब्द कहा। लेकिन कहाँ से निकला यह शब्द? क्या इस भाव धारा से निकला-कि हे गुरुदेव! आप मेरे लिए प्रातःकाल हो, मेरे जीवन की प्रारम्भ यात्रा, मेरे जीवन के प्रारम्भिक बिन्दु आप हो। इस भाव धारा से यदि यह शब्द निकलता है तो वह कल्याण हो जाता है। वह जीवन में प्रातःकाल लाता है। यह पद बोलने के साथ ही भीतर का सूर्य उदित होता है। भीतर की योग्यता प्रकट होती है। इसीलिए बड़ा गहरा शब्द है यह-कल्लाणं। साधारण नहीं है।

हम आदतन बोलते चले जा रहे हैं-कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं। हम इन पदों के साथ यात्रा नहीं कर रहे। जिस भाव धारा के साथ ये पद निकलने चाहिए, उस भाव धारा तक हमारा कभी सम्बन्ध ही नहीं बन रहा। ऐसे में ये पद, ये शब्द, जिनकी खुशबू जा चुकी और जो मुरझा गए हैं, महज़ प्लास्टिक के फूल बन कर रह जाते हैं। है तो फूल, लेकिन न इनमें खूशबू है, न वह सौन्दर्य है। अब ये मुरझाए हुए फूल बनकर रह जाते हैं। अब चाहो तो खिले हुए फूल गुरु के चरणों में चढ़ाओ, चाहो तो मुरझाए हुए फूल गुरु के चरणों में चढ़ाओ। चढ़ाने वाले की मर्ज़ी। चढ़ाने वाले की मर्ज़ी-कि जिसकी खुशबू जा चुकी, जिसका सौन्दर्य जा चुका ऐसा मुरझाया हुआ फूल गुरु के चरणों में चढ़ाए तो रट

लो-कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं-कोई फर्क नहीं पड़ना। मुरझाए हुए फूल चढ़ा दो, तो क्या होगा? जीवन में मुरझाहट ही रहेगी। खिलावट कहाँ से आएगी? और यदि चाहो तो खिले हुए फूल चढ़ावो। खिले हुए फूल चढ़ाने का तरीका है-इत्मीनान से बोलो-बड़े धैर्य से, बड़े प्रेम से, अन्दर के भाव से युक्त होकर शब्द निकले-कल्लाणम्। बहुत प्यारा शब्द है कल्लाणम्। हे गुरुदेव! आप मेरे प्रातःकाल हो। मैं आपमें ही अर्हंत का शरण स्वीकार करता हूँ। ऐसे भाव आए भीतर से। बड़े धैर्य से बोलो। जाना कहाँ है? जल्दी कहाँ है? कहाँ भागना है? कोई express गाड़ी है?

जो पूजा की जाती है, जो वन्दना की जाती है, यह निहायत ही व्यक्तिगत है। अपने भावों का समर्पण निहायत ही व्यक्तिगत अवस्था है। यह सामूहिक कैसे होगा? आप अपने प्रियजन को, अपने प्रियतम को अगर प्रेम प्रदर्शित करोगे तो वह सामूहिक कैसे हो सकता है? वह तो व्यक्तिगत ही होगा। ऐसे ही, आप अपने आराध्य को, अपने उपास्य को वन्दना करोगे तो आपकी वन्दना व्यक्तिगत ही होगी। सामूहिक कैसे हो सकती है? कुछ चीज़ें हैं, जो सामूहिक हो सकती है। कुछ चीज़ें हैं, जो कभी सामूहिक नहीं होती। प्रेम आन्तरिक घटना है, बाहरी घटना नहीं। जो-जो बाहरी घटनाएँ हैं, वे सामूहिक हो सकती है। लेकिन जो आन्तरिक घटनाएँ हैं, वे सभी अन्दर में ही होगी, व्यक्तिगत ही होगी। अतः व्यक्ति जब बोले 'कल्लाणं' तो उसके भीतर से भाव आने चाहिए कि मेरा कल्याण हो रहा है.......

''मेरा आपकी कृपा से सब काम हो रहा है।
करते हो तुम गुरुवर मेरा नाम हो रहा है।।''

फिर, अगला पद जो साधक के भीतर से निकलता है, वह है-मंगलं। 'हे गुरुदेव! आप मेरे लिये मंगल रुप हो। मेरी आत्मा की आवाज़ आप हो।' मंगलं का एक अर्थ है, मेरी आत्मा की आवाज़ आप हो। मेरे भावों का संगीत आप हो। मेरे भीतर में उठने वाला नाद आप हो। यह है मंगलं का अर्थ। प्राकृत अर्थ बता रही हूँ यह। मेरे भावों का संगीत आप हो। मेरे भीतर का सौन्दर्य आप हो। इसीलिये साधक कहता है 'मंगलं'। मेरे मंगल आप हो; और सिद्ध प्रभु का साक्षात् शरण मैं आप में ढूँढता हूँ। आप में पाता हूँ। आप में स्वीकार करता हूँ।

क्योंकि मेरी आत्मा का जो सौन्दर्य है, जो सिद्ध स्वरुप है; वह 'आप' हो। इन भावों से यह पद निकले तो यह पद जीवन्त होगा; क्योंकि शब्द तो मृत है। पुद्गल है।

पुदगल में चेतना नहीं है। चेतना तो व्यक्ति को भरनी होती है। व्यक्ति अपनी चेतना जोड़े, तो शब्द जीवित हो जाए। व्यक्ति अपनी चेतना हटा ले, शब्द मृत है। इतना ही तो फर्क है बोले गए, शब्द में और लिखे गए शब्द में। बोला गया शब्द जीवित है, क्योंकि बोलने वाले का वचन बलप्राण काम कर रहा है। बोलने वाले का वचन बलप्राण इसके साथ जुड़ा हुआ है। और लिखा गया शब्द, पढ़ा गया शब्द... ? हम इन शब्दों को पढ़ भी सकते हैं। हम इन शब्दों को बोल भी सकते हैं। हम इन शब्दों को सुना भी सकते हैं। हम इन शब्दों को सुन भी सकते हैं। हम शब्दों में चेतना जोड़ें। जब चेतना जुड़ती है, तब शब्दों में सौन्दर्य आता है। जब चेतना निकल जाती है तो शब्द का सौन्दर्य खत्म हो जाता है। इसीलिये जब कहो मंगलं, तो उस भाव में जाओ, भाव धारा में प्रवेश करो–'हे गुरुदेव! आप मेरे लिये मंगल हो। मेरा अहंकार जहाँ मिट जाता है और मेरा शुद्ध स्वरुप जहाँ प्रकट हो जाता है, उस शुद्ध स्वरुप के प्रतीक आप हो। सिद्ध प्रभु का साक्षात् शरणा मैं आप में ग्रहण करता हूँ।'

जब कहो 'देवयं', तो भाव लाओ कि गुरु दिव्य है, गुरु दिव्य स्वरुप है। गुरु भौतिक स्वरुप नहीं है। गुरु दिव्य स्वरुप है। इसीलिए गुरु की देह से कोई प्रयोजन नहीं। गुरु की देह काली है, गोरी है, मोटी है, नाटी है, लम्बी है, पतली है–जैसी मर्ज़ी है; गुरु की देह से हमें कोई प्रयोजन नहीं। हमें तो गुरु में दिव्यता नज़र आए; और दिव्यता नज़र आती है। गुरु कोई भी हो सकता है। एक बालक भी गुरु हो सकता है। आप सबने यह कथा सुनी होगी कि राजा जनक का दरबार लगा हुआ है और महर्षि अष्टावक्र वहाँ पहुँच गए। अष्टावक्र को पता लगा कि मेरे पिता इस राजा के दरबार में शास्त्रार्थ में हार चुके हैं और इस कारण से मेरे पिता को जल में डूबा दिया गया। यह पता लगते ही अष्टावक्र पहुँच गए कि मैं जाता हूँ जनक के दरबार में, शास्त्रार्थ करता हूँ। जिन्होंने मेरे पिता को हराया था, मैं उनको हराऊँगा।

जैसे ही अष्टावक्र वहाँ गए, पहले तो द्वारपाल हँस पड़ा उन्हें देखकर, क्योंकि छोटी उमर का बालक, और आठ अंग शरीर के टेढ़े। दाएँ पैर रखे तो

बाएँ पड़े, बाएँ रखे तो दाएँ पड़े, इतना विचित्र शरीर है। इतना विचित्र शरीर क्यों बना उनका? उसके पीछे भी इतिहास है कि अष्टावक्र जब अपनी माँ के गर्भ में थे, तब उनके पिता वेदों का पाठ कर रहे थे। वेद पाठी ब्राह्मण थे उनके पिता। वो वेदों का पाठ करते हुए किसी दिन कहीं गलत उच्चारण कर बैठे? उन्हें नहीं पता लगा कि मैं गलत उच्चारण कर रहा हूँ और गर्भस्थ जीव बोल पड़ता है कि 'यह उच्चारण गलत है।' आवाज़ माँ के मुँह से निकली, लेकिन माँ को यह ज्ञान नहीं है। यह ज्ञान गर्भस्थ संतान को है।

संतान के अध्यवसाय ने माँ के मुँह से ये शब्द निकलवाए कि 'यह आप गलत पाठ पढ़ रहे हो।' ब्राह्मण ने सोचा, 'मेरी पत्नी को तो आता नहीं वेद। यह ऐसा कैसे बोल रही है?' इसका मतलब है कि इसके अन्दर जो बालक है, वह ऐसा कह रहा है। बस, इतना सुनते ही उनका अहंकार आहत हो गया। वह ब्राह्मण है, वेदपाठी ब्राह्मण है, उसे लगता है कि वेदों का ज्ञाता तो मैं हूँ। मुझसे बढ़कर कोई और कैसे हो सकता है....?। उसे क्रोध आ गया। भीतर का अहंकार हमेशा बाहर क्रोध के रूप में फुफकारता है। और तब उसके अहंकारी चित्त ने अपने ही पुत्र को शाप दे दिया कि 'तू आठ अंगों से टेढ़ा हो जाए।' इसीलिए उनका नाम पड़ गया अष्टावक्र यानि आठ जगह से वक्र। वह राजा जनक के दरबार में गया, तो सारे दरबारी उसको देख-देख कर हँसे जा रहे, हँसे जा रहे। अरे, सब तो हँस रहे लेकिन जब राजा जनक को भी हँसी आ गई तब अष्टावक्र ने कहा कि 'क्या यह सभा चमारों की सभा है?' जनक एक क्षण के लिए तो अवाक् हो गये, हैरान हो गये। फिर पूछा, 'क्यों विप्रवर, आपने ऐसा क्यों कहा?' तो अष्टावक्र ने कहा कि 'मुझे यह सभा चमारों की सभा नज़र आती है क्योंकि यहाँ सारे लोग चमड़ी को देख रहे हैं, कोई आत्मा को नहीं देख रहा; तो यह सभा चमारों की सभा हुई।'

गुरु की चमड़ी को नहीं देखा जाता, उसके बाहरी रंग-रूप से क्या मतलब? गुरु की आत्मा को देखा जाता है। इसीलिए जो उपासक गुरु की उपासना करता है, भक्ति करता है; वह कहता है, 'गुरुदेव! देवयं-आप दिव्य स्वरुप हो। आप देवता हो।' और, साधु दिव्य होता है। साधु भौतिक नहीं होता। गुरु कभी भौतिक नहीं होता। गुरु दिव्य होता है। अभौतिक तत्व ही गुरु है। जो भौतिक तत्व है, वह तो मिट्टी है। वह तो पानी है। उससे क्या प्रयोजन?

इसीलिए उपासक कहता है 'देवयं-आप मेरे लिये देवरुप हो। साक्षात् साधु का, गुरु का शरणा मैं आप में पाता हूँ। आप मेरे लिये प्रकाश रुप हो।' दिव्यता का अर्थ होता है-दीप्ति, कान्ति, प्रकाश, तेज। ये सारे दिव्यता के पर्यायवाची हैं। उपासक कहता है, आप मेरे लिए दिव्य हो।

फिर अगला चरण, वह कहता है 'चेइयं', आप चैत्य हो। चैत्य कहते हैं प्रतिमा को, यादगार को, मूर्ति को; जहाँ चित्तों का समूह हो, उसे कहते हैं-चैत्य। यह शब्द बड़ा विवादास्पद रहा है, हमारे जैन शास्त्र साहित्य में। चैत्य को लेकर कई विवाद चले हैं। एक आचार्य ने चैत्य शब्द के एक सौ बारह अर्थ कर डाले। प्राचीन काल में चैत्य शब्द पर बड़े वाद-विवाद हुए थे। स्थानकवासी चैत्य शब्द का प्रयोग नहीं करते थे क्योंकि स्थानकवासी मूर्तिपूजक नहीं है, और 'चैत्य-वन्दन' तो मूर्तिपूजक करते हैं। स्थानकवासी तो चैत्य वन्दन करते नहीं है। अब यह विवाद पैदा हुआ चैत्य शब्द से। इस चैत्य शब्द की चर्चा अन्य अवसर पर। आज इतना ही.....

ॐ शान्ति! ॐ शान्ति! ॐ शान्ति!!

सिद्ध स्तुति

क्या कहूँ थुई अल्प प्रज्ञा, बूँद दधि को क्या कहे?
शेष कुछ भी ना बचा जब, सत सदाशिव हो गए।
वन्दना मेरी निरन्तर, आत्म स्मृति में ही रहे
तीर्थपति या सहज केवली, सिद्ध जो भी हो गए।
बस सत सदा शिव हो गए।।1।।
चिह्न पीछे जो बचे, उनके कदम के काल में
बस उन्हें ही सिर नवाँ, हम रमें समकित माल में।
चल पड़े निज में अकेले, रोष से बच भीड़ के
ज्योंहि मंज़िल से मिले, तो भीड़ में ही खो गए।
बस सत सदा शिव हो गए।।2।।
चल पड़े यूँ कह रहे हैं, सत्य चिरथिर हो गए
ट्रेन में बैठों को जैसे, पेड़ चलते दिख रहे
ये ही विरमण का रहस है, रम स्वयं 'स्व' हो गए
लोक का सम्पूर्ण धन, निज में रमा, सुख सो गए।।
बस सत सदा शिव हो गए।।3।।
सो रहे कहते मगर, चिर जाग कर जीने लगे
गम खुशी के विष का, अमृत सहज ही पीने लगे
पी रहे अमिरस सदा, पर भोग बिन, बिन कुछ छुए
जान निज में सर्व जग, एकात्म ईश्वर हो गए।।
बस सत सदा शिव हो गए।।4।।

चैत्य-पद-सूत्र

अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त आनन्द को प्रकट कर चुके आप्त पुरुष एवं उनकी आगम वाणी को भाव वन्दन। भव्य आत्माओं की भव्यता को प्रणाम।

परिवर्तनशील जगत में चेतना की भावधारा तो बदलती ही है। भावों को व्यक्त करने वाली भाषा भी सतत बदलती रही है। भाषा की भी अपनी एक यात्रा है और यात्रा करते-करते भाषा भी पुरानी हो जाती है, घिस जाती है। उसके शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं। मूल अर्थ खो जाते हैं, और तब वे शब्द केवल एक चैत्य बन कर रह जाते हैं। हम बात कर रहे थे, 'चैत्य' शब्द की, तिक्खुत्तो के पाठ के प्रकरण में।

कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं

कल्लाणं-आप कल्याण रुप हैं, प्रातः काल हैं, मेरे जीवन के प्रभात हैं। मंगलं-आप मेरे लिये मंगल रुप हैं, सिद्ध प्रभु का साक्षात् शरण हैं। देवयं-आप दिव्य हैं। अभौतिक हैं, अलौकिक हैं। आप के दिव्य आत्म गुणों को मैं स्वीकार करता हूँ और साधु की शरण में प्रव्रजित होता हूँ। साधक 'चेइयं' बोल रहा है, अपने गुरु से कह रहा है, 'हे गुरुदेव! आप मेरे लिये चैत्य रुप हो।'

किसका चैत्य? कैसा चैत्य? क्या है चैत्य शब्द का अर्थ? चैत्य शब्द का अर्थ है-जो किसी को सम्बोधन रूप हो। चित्+'य'। 'य' कहते हैं सम्बोधन को। 'य' अक्षर सम्बोधन के लिये आता है। मंत्र शास्त्र में, संस्कृत व्याकरण में, 'य' का प्रयोग सम्बोधन के लिये, किसी को बुलाने के लिये, पुकारने के लिये होता है। किसी से सम्पर्क स्थापित करने के लिये होता है; जैसे- या कुन्देन्दु तुषार हार धवला, या कुन्देन्दु......। वह....सरस्वती, जो हाथ में वीणा धारण किए हुए है, पुस्तक धारण किए हुए है। इसी तरह से चैत्य यानि चित्त का सम्पर्क। जिस चित्त से हम सम्बन्ध बना सकें। कौन से चित्त से सम्बन्ध हो....? अर्हंत हमारे समक्ष नहीं, सिद्ध हमारे समक्ष नहीं। लेकिन अर्हंतों की वाणी हमारे

समक्ष है। अर्हंत जो बोल गए, वह 'श्रुत' है। जो उन्होंने बोला, वह श्रुत ज्ञान है। ऐसा श्रुत ज्ञान, जो परम्परा से चला आ रहा है, यानि गुरु ने शिष्य को दिया, शिष्य ने अपने शिष्य को दिया; तब वह श्रुत ज्ञान 'श्रुति' बन जाता है। वह श्रुति हमारे समक्ष कैसे आती है? गुरु के माध्यम से आती है। गुरु वह श्रुत ज्ञान हमें देते हैं। अतः हमारे लिये ज्ञान का पिटारा कौन? गुरु। हमारे लिये ज्ञान का खज़ाना-गुरु। आगम शास्त्र का ज्ञान हमें चूँकि गुरु से मिलता है; इसलिए गुरु को हम 'ज्ञान का चैत्य' कहते हैं। ज्ञान की प्रतिमा, ज्ञान की जीवन्त मूर्ति। हकीकत में तो सद्‌गुरू ही परम चैत्य होता है। चाहे वह साक्षात् देह में विराजमान हो अथवा ऐतिहासिक यादगार रूप,शिष्य का शिष्यत्व भाव महत्वपूर्ण है। शिष्य जैसे-जैसे गुणों का चिंतन-मनन करते हुए आदक्षिण-प्रदक्षिणा करेगा, वैसा ही गुण वह न्यूनाधिक प्राप्त करता रहेगा। कहा भी गया है कि-

जाकी रही भावना जैसे, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।

आत्मज्ञानी श्री विराट गुरूजी का कहना है कि चैत्य का प्रयोजन, चैत्य का विज्ञान चित्त की सतत् टकोर है। चैत्य अर्थात् यादगारी, चैत्य यादगारों का समूह (Memorandum) है। आप देखो, हम वर्णन सुनते हैं कि पुराने ज़माने में हर नगर के बाहर एक चैत्य या चैत्यालय होता था। एक यक्ष आयतन होता था। यह चैत्यालय या यक्षायतन नगर के बाहर उत्तर-पूर्व में बने होते थे। जो भी साधु भगवन्त अथवा तीर्थंकर भगवन् जब विचरण करते हुए आते, उन चैत्यालयों में ठहरते, उन यक्षायतनों में ठहरते थे।

जब हमारे पूर्वज इस दुनिया को छोड़कर चले जाते हैं, तो शरीर से भले ही वे दुनिया को छोड़कर चले जाएँ, लेकिन अगर वे मन में किसी अतृप्त इच्छा को लेकर मर गए हैं, तो उनके चित्त इस संसार में मौजूद रहते हैं। उनका चित्त अपने घर-परिवार में, अपने कुल में मौजूद रहता है। इसीलिए हम अपने कुल के पूर्वजों की पूजा भी करते हैं क्योंकि हमें पता है कि उनकी दृष्टि हम पर है। उनका चित्त अभी भी हमसे जुड़ा हुआ है। उनसे सम्पर्क साधने के लिए हम उनका एक स्थान भी बना देते हैं। बाबा बोरा जी का स्थान, लोढ़ों की माता का स्थान, सुराणा की सुश्रावणी माता, अम्बा माता, ओसवालों की ओसिया माता का स्थान-ये सब क्या है? ये सब चैत्यालय हैं। ये चैत्यालय इसलिये हैं-कि जो

आपकी दादी हो चुकी है, जो आपके बाबा हो चुके हैं, आप गृहस्थजनों को उनकी पूजा करके उनको भेंट चढ़ानी है और उनसे आशीर्वाद लेना है।

तो, ये चैत्यालय पुराने ज़माने से बनते आ रहे हैं। कोई आज की बात नहीं। महावीर प्रभु के समय में भी और महावीर से पहले भी, चैत्यालय हुआ करते थे। यक्षायातन हुआ करते थे। जो भी मनुष्य मर कर यक्ष बन गए हैं, पितर बन गए हैं-कोई भोमिया जी बन गए हैं, कोई भैरव जी बन गए हैं, कोई अन्य देवी-देवता बन गए हैं-उनके लिए अगर वे चाहते तो, स्थान बनाए जाते थे। वे ऐसा चाहते कि हमारे लिए एक स्थान बने, जहाँ लोग आए और मत्था टेके तो ऐसी प्रेरणा वे अपने भक्तों को, अपने पुत्र आदि वंशजों को देते थे । सपने में आकर कोई संकेत या प्रेरणा देते कि तुम मेरे लिए ऐसा स्थान बनाओ। अतः लोग स्थान बनाते, और तब वे यक्ष आदि, जो स्थान बन जाता, वहाँ स्वयं के चित्त को स्थापित करते। उनका चित्त वहाँ मौजूद रहता। इसीलिए वहाँ लोग जाते हैं, मत्था टेकते हैं और उन्हें खुशी मिलती है। लोग वहाँ जाते हैं, भजन कीर्तन करते हैं, धूप-दीप होता है, उन्हें खुशी मिलती है। न सिर्फ उन्हें खुशी होती है, वरन् जो उनके लिये ऐसा करता है, वे उनके ऊपर कृपा दृष्टि भी रखते हैं।

वे यक्ष अगर संसार में अर्हंत के उपासक रहे हो यानि मृत्यु से पूर्व यदि अरहन्त के उपासक रहे हो, तो वे यक्ष भी चाहते हैं कि मैं जहाँ अब बैठा हूँ, वहाँ पर भी अर्हंत की प्रतिमा हो; ताकि लोग यहाँ आए और अर्हंत की पूजा करे। मैं स्वयं भी अरहन्त के समीप ही अपने आप को महसूस करूँ। इसीलिए जहाँ ये यक्षायतन होते थे, वहाँ पर तीर्थंकरों की प्रतिमाओं का निर्माण भी होना शुरु हो गया। तीर्थंकरों की प्रतिमा वहाँ पर स्थापित कर दी जाती थी। लोग जब वहाँ जाते तो ऐसी प्रतिमा को देखकर उन्हें तीर्थंकरों की स्मृति हो आती। जिसको देखकर जिसकी स्मृति आवे, वो उसका चैत्य। जैसे, हम अपने बाप-दादाओं की तस्वीर घर में रखते हैं। यह तस्वीर क्या है ? तस्वीर को देख कर हमें अपने बाप-दादाओं की, पूर्वजों की याद आती है। उनका इतिहास हमारे स्मृति पटल पर revise होता है; तो वे हमारे लिये चैत्य हैं। बाप-दादाओं की तस्वीर हमारे लिये चैत्य है। ये भोमिया जी या घर के पितर, कुलदेवी आदि के स्थान चैत्य हैं।

इसी तरह तीर्थंकरों की प्रतिमा को भी 'चैत्य' कहा जाता है। क्योंकि

उस प्रतिमा को देखकर हमें अर्हंतों की याद आती है, और अब हम अर्हंतों की पूजा करना चाहते हैं। साधारण व्यक्ति जब अरहन्त की पूजा करना चाहता है, तब अगर अरहन्त की प्रतिमा उसके सामने ना हो तो उसे ख्याल ही नहीं जगेगा भक्ति का। उसे ख्याल ही नहीं जगेगा कि मैं भी अपनी आत्मा को इस तरह बनाऊँ। इसलिए साधारण व्यक्ति के लिए बड़े काम के हैं ये चैत्य। बड़े काम की हैं ये प्रतिमाएँ। प्रतिमाओं को देखकर उसे यह ख्याल जग सके-कि जीवन का सौन्दर्य बस उतना ही नहीं है, जितना तुम समझ रहे हो। जीवन का सत्य उतना ही नहीं है, जितना तुम समझ रहे हो। देखो, वे वीतराग हुए हैं। उन्होंने पूर्ण सत्य को प्रकट किया है। वे आत्मा के पूर्ण सौन्दर्य को उपलब्ध हुए हैं। इन्हें देखकर हमें स्मृति आए, इसीलिए मन्दिर बहुत आवश्यक है। मंदिर में विराजमान प्रतिमा हमारे स्वभाव धर्म को जागृत करने की प्रेरक पुराण है।

प्रतिमाएँ बड़ी उपादेय है, क्योंकि वे हमारे चित्त को टकोरती है, चित्त को याद दिलाती है, स्मृति दिलाती है, कि 'देखो! भगवान है।' और जब ''भगवान है'' इतना भी ख्याल जगे, चाहे मूर्ति को देखकर ख्याल जगे, प्रतिमा को देखकर ख्याल जगे; तो व्यक्ति का सिर तो झुके। कोई तो दर हो जहाँ व्यक्ति अपना सिर झुका सके। वरना तो पूरे संसार में व्यक्ति अपने सिर को तान कर चलता है। कहीं झुकना नहीं चाहता, अकड़ा रहता है। अपनी गर्दन को झुकाने का कभी नहीं सोचता। कदाचित् झुक भी जावे और कोई कह दे कि 'क्या बात है राजा! आज तेरी गर्दन झुक गई।' तो राजा कहता है-

ये जिस्म् बोझ से झुक कर दोहरा हुआ होगा।
मैं सज़दे में नहीं था, कहीं धोखा हुआ होगा।।

लेकिन कहीं तो ऐसा स्थान हो, जहाँ व्यक्ति को लगे कि 'मुझे झुकना है'; तो आदमी को झुकाने के लिए महत्वपूर्ण दर है-देरासर, मंदिर, गुरूद्वारा अथवा वो प्रतिमाएँ, वो चैत्य। इनका महत्व आदमी के लिए है। इनका महत्व स्वयं से नहीं है, क्योंकि अपने आप में तो वे मुक्त हो चुकी आत्माएँ हैं-उन्हें क्या. ... ? कोई प्रणाम करे तो क्या, कोई प्रणाम न करे तो क्या ? लेकिन आदमी के लिए महत्वपूर्ण है कि वह कहीं तो किसी दर पे जाए, सिर झुकाए। कहीं तो जाए अपने दिल के भावों को व्यक्त करने। क्योंकि दुनिया में तो उसकी कोई सुनता नहीं, और कोई अगर सुन भी ले तो सही अर्थ समझता नहीं, गलत अर्थ समझ

लेता है। माँ-बाप अपनी तकलीफें कहाँ जाकर कहे... ? कहाँ जाकर सांसारिक व्यक्ति अपना दुखड़ा रोए, क्योंकि जिसके सामने भी वह अपना दुखड़ा बयान करेगा, सामने वाला उससे दस गुना ज़्यादा बयानी करेगा। आप अपना एक दुखड़ा सुनाओ, वो कहेगा, 'तेरे तो बस इतने ही दुःखड़े हैं, मेरे तो इतने सारे दुःखड़े हैं। वह गया तो था एक देने के लिये, बीस और उधार ले कर आ गया। किसी शायर ने कहा है कि-

हमने अपनी एक कही, उसने कही इक्कीस।
एक-एक टकरा गए, बीस भये बख्शीश।।

अब वह क्या करे ? आदमी को हल्का होने के लिए कोई तो स्थान चाहिए, जहाँ जाकर वह अपने पापों की गर्हा कर सके, अपना confession कर सके, जहाँ जा कर अपने दुःखड़े रो सके, जहाँ जाकर वह कुछ भी बोल सके, कुछ भी माँग सके....; भले वो दे अथवा ना दे, इससे कोई प्रयोजन नहीं है। लेकिन, आदमी कहीं तो हल्का हुआ, आदमी कहीं तो खाली हुआ।

हमारे पुराणकार, पुराने मनीषी बड़े समझदार होते थे-उन्होंने पुराण बनाए। उन्होंने पुराण रूप चैत्य बनाए। पूज्य विराट गुरूजी बताते हैं कि चैत्य पूजा भी तीन तरह की होती है:- जो प्राथमिक चैत्य पूजा है, वह है पुराण पूजा। 'पुराण' यानि पुरानी यादों का समूह। ये चैत्य एक प्रतीक है, पुराण है, मिथक है-सारे तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ देखो, केवल प्रतीक है। सब तीर्थंकरों के कान लम्बे, वक्षस्थल चौड़ा, हाथ घुटनों तक, सभी पद्मासन में बैठे हुए-ज़रुरी नहीं है कि सब ऐसे ही रहे होंगे; लेकिन यह पुराण है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि उनके कान बड़े थे या छोटे थे लेकिन यह इसलिये बनाए गए ताकि व्यक्ति संकेत को समझ पाए, जागृत हो पाए कि इन्होंने इन्हीं कानों से अन्तर् नाद को सुना है; जो अभी तक हमने नहीं सुना। ये अपने भीतर इस आकृति में आ गए थे। जब ये वीतराग हुए तो इनके भीतर की चेतना की आकृति ऐसी हो गयी थी-प्रतिमा देखकर व्यक्ति में ऐसा ख्याल जगेगा। व्यक्ति कभी, कुछ पल के लिए भी ऐसे बैठना शुरु करे; तब उसे महसूस होगा कि मेरे ऊपर चारों ओर से शान्ति बरस रही है। ऐसे बैठने से भी शान्ति बरसनी शुरु हो जाएगी क्योंकि आसन बदलने से भी व्यक्ति के मस्तिष्क की गति बदल जाती है। इसलिए आसन का भी बड़ा महत्व है। प्रतिमा के आसन को देखकर व्यक्ति को भी लगे

कि मैं भी कभी ऐसे बैठूँ-इसलिए यह पुराण पूजा है।

पुराण पूजा में व्यक्ति उस चैत्य को अपना लग्न समझ कर, अपना केन्द्र बिन्दु समझ कर, stationary centre समझ कर उसकी परिक्रमा करता है, स्तुति करता है। परिक्रमा, स्तुति-यह सब कुछ उसके अपने अन्तर् में परिवर्तन के लिए सहायक है। ये उसके अन्तर् को बदलेगी, क्योंकि वह इसे अपनी भावना से कर रहा है। यह परिक्रमापूर्वक वंदना इष्ट की, अरहंत चैत्य की अथवा प्रत्यक्ष गुरूदेव की हो, यदि गुरू समक्ष न हो तो गुरू की प्रतिमा को लेकर की जाए। भावों में गुरू की प्रतिमा को लाने में चैत्य मददगार बनते हैं। इसीलिए चैत्य भी बड़े काम के हैं।

चैत्य की पूजा, पूजा का प्राथमिक स्तर है, कि हम पुराण की पूजा करें। हम किसी चित्र की, किसी मूर्ति की, किसी प्रतिमा की पूजा करें। उसे सामने रखकर अपने भावों से भाव पूजा में चले जाएँ, व्यक्ति में भाव जगे और वह भाव पूजा में जाए-इसलिए 'चैत्य' है। लेकिन अब problem हो गई। यह 'चैत्य' शब्द मन्दिर के लिए प्रचलित हो गया, मूर्ति के लिए प्रयुक्त होने लग गया; तो स्थानकवासी समाज इसको कैसे स्वीकार कर सकता है? नहीं स्वीकार कर सकता स्थानकवासी समाज; लेकिन यह शब्द गुरू वन्दना के पाठ में मौजूद है, और मूल पाठ को कैसे change करें? यह बड़ी दिक्कत हो गई। तब फिर उन्होंने अर्थ लगाया, कि चैत्य यानि 'ज्ञान'। और इसलिए कह दिया, 'चेइयं' शब्द का अर्थ होता है 'आप ज्ञानी हो।'

यह जो अर्थ लगाया गया, हकीकत में देखा जाए, तो इस अर्थ का कोई विशेष औचित्य नहीं, क्योंकि ज्ञान जो है वह तो हर क्षण नया होता है, नूतन होता है, ज्ञान कभी पुराना होता ही नहीं। ज्ञान, जानने की क्रिया का नाम है। जानना हर पल हो रहा है। ज्ञान मतलब Knowing. जो भी पुराना सीखा जा चुका है, वह विद्या है, जानकारियों का संग्रह है, सूचनाओं का पिटारा है। विद्या अर्थात् विधिवत् प्राप्त जानकारी रूप ज्ञान, वह पुरानी हो सकती है। विद्या पुरानी हो सकती है; क्योंकि बुजुर्गों ने सहेज रखी है, किताबों में लिख रखी है। ज्ञान तो जानने की क्षमता है, जो हर क्षण नई होती है। इसलिए चैत्य का अर्थ 'ज्ञान' नहीं हो सकता।

चैत्य का अर्थ है-जिन्होंने जाना, जिन्होंने कहा, उनकी कही हुई वाणी

का संग्रह, जो यादगारी है–वह चैत्य है। इसीलिए, चैत्य पूजा का दूसरा भेद हम करते हैं–शास्त्र पूजा। शास्त्र पूजा, या कह दो–सूत्र पूजा। क्योंकि किसी भी सूत्र को देखकर अथवा पढ़कर या उनका पारायण करके हमें उन तीर्थंकरों की, उन ज्ञानी पुरूषों की याद आती है जिन्होंने यह सूत्र कहे। हमारा सम्पर्क उन ज्ञानियों के ज्ञान से हो जाता है। इसीलिये यह चैत्य ज्ञान–पूजा के रुप में उपादेय है।

कई लोग जब वाद–विवाद पर उतर जाते हैं तो कहते हैं, मूर्ति की पूजा अथवा चैत्य की पूजा 'जड़ पूजा' है। जब वे लोग ऐसा प्रश्न चिह्न अंकित कर देते हैं चैत्य पूजा पर; तो मूर्तिपूजक भी चुप थोड़े ही रहेंगे? वो कहते हैं–तुम शास्त्रों को पूजते हो। तुम मूर्ति को नहीं पूजते, शास्त्रों को पूजते हो; तो बताओ शास्त्र जड़ है या चैतन्य है? अब क्या जवाब दोगे? तुम प्रतिमा को सत्य नहीं मानते, तुम शास्त्रों को सत्य मानते हो, तुम शास्त्र की किताब ज़मीन पर नहीं रखते, स्थापना जी (ठवणी) के ऊपर रखते हो–तो ज़रा यह बताओ कि शास्त्र क्या है? क्या यह जड़ नहीं है? तब प्रश्नकर्त्ता को चुप होना पड़ता है, और होना ही पड़ेगा क्योंकि जड़ तो जड़ ही है–चाहे वो शब्द रुप में हो, चाहे आकार रुप में हो। आकृति भी जड़ है, शब्द भी जड़ है। आकृति की पूजा प्राथमिक है, शब्द की पूजा द्वितीय स्तर की है। जो लोग सरल, भक्ति प्रधान होते हैं, उनके लिए आकृति की पूजा पर्याप्त है, वे वहीं से अपना रास्ता प्राप्त कर लेंगे। उनकी यात्रा वहाँ से भी हो जाएगी। इसीलिए कभी उनको नकारो मत।

भगवान महावीर की देशना है–कि 'अस्ति–अस्ति'। भगवान महावीर कहते हैं, सबको 'अस्ति' जानो। देवलोक भी है, नरकलोक भी है, पितर भी है, भूत भी है, प्रेत भी है–सब कुछ है। नकारो मत, कि ये सब कुछ नहीं होता, हमें दिखाई नहीं देता इसलिये कुछ नहीं होता। मत कहो, कि इस मूर्ति में कुछ नहीं होता–ऐसा नहीं है। भक्त लोगों के प्राण बहते हैं, इस मूर्ति में। भक्तों की भावनाएँ जुड़ी हुई है मूर्ति के साथ। और भक्तों की भावनाएँ जहाँ जुड़ जाए, वह मूर्ति 'सचित्त' हो जाती है। स+चित्त यानि सह चित्त हो गई, क्योंकि लोगों के, भक्तों के, चित्त उसके साथ जुड़ गए। अब इतने भक्तों के चित्त जुड़ गए हैं, अब कोई उसकी आशातना करे तो भक्तों का दिल टूटता है। भक्तों के दिल को चोट पहुँचती है। इसलिए, अगर कोई वास्तव में सिद्धान्त को समझना चाहे, तो वह व्यक्ति कभी किसी चैत्य की, कभी किसी प्रतिमा की आशातना

नहीं करे। पूजो ना पूजो-आवश्यक नहीं, लेकिन आशातना न करो। चैत्य वन्दन करो न करो, आवश्यक नहीं, लेकिन कभी आशातना मत करो; क्योंकि उसमें भी प्राण बह रहे हैं। और 'प्राण', व्यक्ति डालता है। अपने भावों से डालता है।कैसे?

एक उदाहरण से समझें, इसे। छोटा-सा example लो, आपको आपके पिताजी ने मरने से पहले एक बहुत सुन्दर रत्न प्रदान किया। कहा, 'बेटा, यह मेरे बाप-दादाओं की पूँजी है, बाप-दादाओं की धरोहर है।मुझे भी मेरे पिताजी ने मरने से पहले दिया था।तू इसे सम्भाल के रखले।' अब वो रत्न, जो बाप-दादा ने दिया है, इसलिए दिया है क्योंकि यह आपके वंश की धरोहर है।पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला आ रहा है।आपने भी उसे सुरक्षित डिब्बे में डालकर अपनी तिजोरी में रख दिया। वैसे तो रत्न निर्जीव है-ठीक है? लेकिन, ज़रा अगले दिन आप अपनी तिज़ोरी खोलो और वह रत्न वहाँ ना दिखाई दे, तब बताओ आपकी क्या स्थिति होगी? चित्त में खलबली मच जाएगी।ऐसा लगेगा जैसे बहुत कुछ चला गया है।मेरे पिता जी ने मुझे दिया था मरते वक्त, और कहा था-धरोहर है, सम्भाल कर रखना।मुझे इसे अपने बेटे को ट्रान्सफर करना था, लेकिन यह क्या हो गया? कितनी खलबली मच गई चित्त में -क्यों? क्योंकि बाप-दादा का चित्त उसमें जुड़ा हुआ था और आपका भी चित्त उसमें जुड़ चुका; और अब वो न मिले तो......।आप कहो न अपने आपसे, 'क्या हो गया? बाज़ार से दूसरा रत्न लाकर रख देंगे।इतने पैसे हैं हमारे पास।हम जाएँगे और फिर ऐसा ही कोई नया रत्न खरीद कर रख देंगे', लेकिन सन्तोष नहीं होगा। ऐसा कैसे? नये रत्न की बात नहीं है, वही रत्न चाहिए।

जब कोई व्यक्ति, कोई प्रिय व्यक्ति, हमारा प्रियतम, हमें कोई पैन दे अथवा कोई डायरी दे।और फिर वह पैन कोई हमसे माँगे, तो क्या हमारा मन करेगा कि हम उसे दे दें? नहीं! हम कहेंगे, तुम्हें दूसरा पैन लाकर दे देंगे बाज़ार से, किन्तु यह पैन तो मैं नहीं दे सकता क्योंकि यह पैन मुझे मेरे फलाँ मित्र ने दिया है।अब यह पैन विशिष्ट हो गया है, क्योंकि उसे देने वाला हमारे लिए महत्वपूर्ण था।अब उस पैन में हमारा चित्त जुड़ा हुआ है।वो पैन निर्जीव है, लेकिन अब उस पैन में किसी का चित्त जुड़ गया, वह सचित्त हो गया।इसी तरह से, दूसरा रत्न भी तो आ सकता है; लेकिन नहीं, वही रत्न महत्वपूर्ण है, क्योंकि उस रत्न में सब

का चित्त लगा हुआ है। अब वह खो जाता है, तो आदमी की नींद हराम हो जाएगी क्योंकि उसमें उसका चित्त है।वह सहचित्त है।

भगवान महावीर ने बहुत गहरा विश्लेषण दिया चित्त का, और कहा, जहाँ-जहाँ चित्त है, वहाँ-वहाँ व्यक्ति मौजूद है। व्यक्ति की चेतना मौजूद है। इसीलिये कहा, किसी चित्त की आशातना मत करो। किसी चित्त को कष्ट न पहुँचाओ। साधु को मना किया कि 'सहचित्त' मत ग्रहण करो। कोई साधु आपके घर आए और आप कहें 'महाराज जी, यह चॉकलेट ले लो गोचरी में।' जैसे ही आप चॉकलेट बहराने लगे और आप का पोता बीच में आ गया। 'पापा-दादा! यह तो मेरी चॉकलेट है, यह नहीं देने दूँगा मैं महाराज जी को, यह मेरी है।' अब बताओ- महाराज जी लेंगे या नहीं लेंगे? नहीं लेंगे। क्यूँ? क्योंकि चॉकलेट सचित्त है।पोते का चित्त उसमें लगा हुआ है।साधु महाराज नहीं लेंगे।

साधु आपके घर ठहरने के लिये आए, आज्ञा माँगी और आपकी पत्नी ने कह दिया 'नहीं, मैं तो अपना कमरा नहीं देने वाली' और आप कह रहे हैं दे दो। और आपने ज़बरदस्ती उसे मना करके कहा कि 'महाराज जी! आप इस कमरे में रह जाओ।' साधु मना कर देंगे-कि नहीं। क्योंकि जब देने वाले का मन नहीं है, उसका चित्त देने का नहीं है।उसका चित्त उस वस्तु में लगा हुआ है तो वह सचित्त है।जब तक वह सचित है, साधु उसे ग्रहण नहीं करेंगे।यहाँ निर्जीव और सजीव का सवाल ही नहीं है। महावीर भगवान ने सजीव और निर्जीव शब्द का प्रयोग किया ही नहीं।सचित्त और अचित्त शब्द का प्रयोग किया-कि उस वस्तु, व्यक्ति या पदार्थ को मत ग्रहण करना जिसमें किसी व्यक्ति का चित्त जुड़ा हुआ है।इसलिए 'चैत्य पूजा' बड़ी महत्वपूर्ण बात हो गई।

प्राथमिक चैत्य पूजा है-पुराण की पूजा, किसी प्रतिमा की पूजा, किसी चित्र की पूजा। किसी को stationary body (लग्न, केन्द्र) समझा और हमने उसकी अपने भावों से वन्दना की।द्वितीय, मध्यम चैत्य पूजा है-सूत्र पूजा, ज्ञान पूजा।वे लोग, जो केवल दिल से ही नहीं, दिमाग से भी चलने वाले हैं और जिनका दिमाग बड़े दाँव-पेंच करता है, उन लोगों के लिए यह आवश्यक है कि वे भगवान की वाणी जो शास्त्रों और सूत्रों के रुप में संकलित है, उसका पारायण करे, उसको सीखे, उसको पढ़े, उसको जाने, उसके रहस्यों को खोजे, उसके अर्थों की यात्रा करे।ऐसा करते-करते संभव है, वे धर्मध्यान

को उपलब्ध हो जाएँ; अपनी भाव शुद्धि को उपलब्ध हो जाएँ और उनके भीतर भी पूजा घटित हो जाए।

ये सारे शास्त्र इसलिए व्यक्ति को सहायक है, क्योंकि शास्त्रों का स्वाध्याय करते-करते भी व्यक्ति धर्मध्यान को उपलब्ध हो सकता है, उसके कषाय समाप्त हो सकते हैं। उसके भीतर की ग्रन्थियाँ विसर्जित हो जाए, ग्रन्थियाँ निकल जाए; तब तो ये ग्रन्थ काम के हैं। लेकिन अगर ग्रन्थ पढ़ने के बाद ग्रन्थियाँ बढ़ जाती हो, तो ये ग्रन्थ किसी काम के नहीं। पुराण पूजा फिर भी आसान है, लेकिन सूत्र पूजा आसान नहीं है। क्योंकि सूत्र पूजा में जब व्यक्ति सूत्रों को पढ़ता है, अर्थों को पढ़ता है; तब उसने जैसे अर्थ पढ़े या अपनी समझ से लिए, वह उन्हीं को शाश्वत सत्य समझ लेता है। कोई व्यक्ति उसका दूसरा अर्थ करले, तो उसके साथ वाद-विवाद करने लग जाता है। और वाद-विवाद इतना बढ़ जाता है कि इन व्यर्थ के आधारों पर नए-नए सम्प्रदाय खड़े हो जाते हैं। आप देखो, श्वेताम्बर में-मूर्तिपूजक, तेरापन्थी और स्थानकवासी तीनों हैं और तीनों आम्नाओं के पास ये बत्तीस सूत्र मौजूद हैं। मूर्तिपूजक के पास बत्तीस के साथ कुछ और जोड़ देते हैं वे, तो पैंतालिस सूत्र मौजूद है। स्थानकवासी और तेरापन्थी के समान हैं। दोनों इन्हीं बत्तीस सूत्रों को मानते हैं, फिर भी दोनों के सम्प्रदाय अलग-अलग हैं। क्यों?

एक तेरापंथी मुनि की व्यंग्यात्मक कविता का भाव कुछ इस प्रकार है-

तुम चाहे कैसा भी सूत्र बना डालो,
टीका तो आखिर मैं ही करने वाला हूँ।
अर्थों को मैं कैसा भी बदल के रख दूँगा,
तुम क्या जानो, तुम क्या पहचानो?

सूत्र के आँखें थोड़े ही है। वो क्या जानता है? सूत्र को नहीं पता है, टीका करने वाला अर्थात् व्याख्या करने वाला सूत्र का जैसा मर्ज़ी अर्थ लगा ले। जैसी मर्ज़ी टीका कर ले, और टीका करके वह झगड़ा पैदा कर दे, तो क्या करोगे? कोई उपाय नहीं है। इसलिए शास्त्र पूजा भी कई बार मुसीबत में डाल देती है। अक्सर समाज में ये जो राग- द्वेष है, जो धर्मान्धता है, जो विभिन्न मत-मतान्तर हैं-ये सारे ही शास्त्रों की वजह से पैदा होते हैं। क्योंकि शास्त्र की

पूजा करने वाला भी निष्पक्ष नहीं हो पाता। अगर वह निष्पक्ष होकर शास्त्र का स्वाध्याय करे, सूत्रों का अध्ययन करे; तो ही उसे सम्यक् दृष्टि प्राप्त होती है और तब व्यक्ति उस पूजा के द्वारा भी राग-द्वेष से मुक्त होता है। लेकिन कोई न कोई आदर्श तो चाहिए। बिना चैत्य के यात्रा कैसे होगी ? उस अतीत में जो फूल खिला, जो अर्हंत हुए उनकी वाणी के बिना अथवा उनकी प्रतिमा के बिना यात्रा कैसे होगी ? इसलिये अक्सर व्यक्ति सहारा ढूँढता है, आलम्बन ढूँढता है; और आलम्बन के लिए या तो प्रतिमा का आलम्बन लो या इन सूत्रों के पिटारों का आलम्बन लो। सूत्रों के पिटारों की पूजा करो।

सूत्रों के पिटारों की पूजा यानि उनका पठन-पाठन करते हुए भी सजग रहने की अत्यन्त आवश्यकता है। शोध बुद्धि जगाए रखने की अत्यन्त आवश्यकता है। यदि शोध दृष्टि नहीं है तो आप जो एक बार पढ़ लोगे उसी को सच समझ लोगे, और उसके बाद दूसरे किसी writer को पढ़ोगे तो उसे गलत बता दोगे और, अक्सर ऐसा ही होता है। बचपन से हमने जो अर्थ सुन लिए, अब अगर कोई उन शब्दों का नया अर्थ बता दे, तो हमारा मन क्या कहता है ? सबसे पहले मन में क्या विचार आएगा-यह गलत कह रहा है। हमने जो सुन रखा है, वो सच है। हमने जो बचपन से पढ़ा है, वह सच है। हमें जो सिखाया गया है, वह सत्य है।

जब कभी हम कहते हैं कि णमो अरिहन्ताणं नहीं, णमो अरहन्ताणं शुद्ध उच्चारण है। सूत्रों में अरहन्त पद मिलता है; और यहाँ तक कि प्राचीन शिलालेखों में भी अरहन्त शब्द मिलता है। तो हम क्यों न अरिहन्त की बजाय अरहन्त बोलें ? तो, अक्सर लोगों का जवाब हमें मिलता कि 'महाराज जी! इतने सालों से जो हम बोल रहे हैं, क्या वह गलत है ? हमारे गुरु महाराज ने हमें यह सिखाया, तो क्या वो ज्ञानी नहीं थे ? क्या आप ही ज्ञानी हो ? आप कहाँ से आ गए इतने ज्ञानी ? क्या हमारे गुरु ज्ञानी नहीं थे, जो आप नया अर्थ बता रहे हो ? नया शब्द बता रहे हो।' हमने कहा, 'भाई! हमें माफ करो। हम नया शब्द नहीं दे रहे। आप स्वयं भगवती सूत्र को खोलो-उसके पहले पन्ने को खोलकर देख लो, वहाँ णमो अरहन्ताणम् लिखा हुआ है।' लोग कहते हैं, 'भले ही लिखा होगा, हमें कोई लेना-देना नहीं है। हमारे गुरु महाराज ने जो हमें बरसों से सिखा रखा है, हम तो उसी को मानेंगे।' इस तरह की मान्यतापरक सोच अनेकों स्थानों

पर मिलेगी क्योंकि व्यक्ति सत्य के प्रति शोध (खोजी, research) दृष्टि नहीं रखता। केवल मानना चाहता है-कि मुझे कुछ करना भी न पड़े और जो परिपाटी चल रही है, मैं उसको follow करूँ, और मेरा कल्याण हो जाए। किसी समय पूज्य विराट गुरुदेव ने 'चैत्य और दैत्य' विषय पर कविता लिखी –

''किनारों को यह दुःख है, लौटकर आती नहीं लहरें।
नयी हर लहर आती भी है, तो नया ज़ज्बात लेकर के।
और टकरा के प्रियतम से सदा ही टूट जाती है,
बिखर जाती उमंगें हैं, प्रसंग सब बिछड़ जाते हैं,
ज़मीं तर है सदा यादों की, उसको चैत्य कहते हैं।
फिर भी हैं सभी ज़िन्दा किनारे, उसे परिपाटियों का दैत्य कहते हैं।''

अर्हंत चले गये, वे लौट कर नहीं आते। अब उनकी वाणी आती भी है लौटकर के, तो वह वाणी अनेकार्थ होती है, एकार्थ नहीं होती है। अनेकान्त अर्थों वाली है। लेकिन व्यक्ति इतनी समझ नहीं रखता, इसलिए वह किसी एक अर्थ को पकड़ कर उसी को सर्वथा सत्य समझ करके उसे परिपाटी बना कर जीता रहता है। इसीलिए लोग उलझ जाते हैं। जो चीज़ उन्हें सुलझाने के लिए है, उन्हें दिव्य आलोक में ले जाने के लिए है, वही उन्हें नया अंधकार दे देती है और वे भटक जाते हैं।

यह चैत्य पूजा भी सम्यक् तरीके से हो पाए, ऐसा आसान नहीं। चैत्य पूजा हकीकत में आसान नहीं है, क्योंकि जो लोग प्रतिमा की पूजा कर रहे हैं, पुराण की पूजा कर रहे हैं, वे भी गलती कर बैठते हैं। वे प्रतिमा से वीतराग मुद्रा में रहने की प्रेरणा लेने की बजाय उस प्रतिमा को ही व्यक्ति समझ कर उसी को नहलाना-धुलाना, आँगी रचाना, इत्र लगाना, भोग लगाना-आदि विषयों में ही लिप्त हो जाते हैं। जो प्रतिमा आपके भीतर प्रेरणा जगाने के लिए थी, वो प्रेरणा का स्रोत नहीं रही। प्रतिमा को भी लोगों ने व्यक्ति समझ लिया और व्यक्ति पूजा करनी शुरु कर दी-यहाँ भी भूल कर दी। अपनी-अपनी मानसिक कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति का साधन बना डाला। शास्त्रों के साथ भी भूल कर दी-शास्त्रों में हमने किसी एक आयाम को, एक अर्थ को सत्य समझ लिया और उसी को परिपाटी बना कर बाकी से वाद-विवाद और वैर-विरोध करना शुरु

कर दिया।

तीसरी पूजा, चैत्य पूजा का तीसरा स्वरुप, बड़ा महत्वपूर्ण स्वरुप, चरम स्वरुप; वह है, 'गुरु पूजा'। 'गुरु' साक्षात् चैत्य है, क्योंकि गुरु में ज्ञान प्रकट हुआ है। गुरु ने साधना करके अरहन्त की वाणी के साथ अपनी आत्मा को जोड़ा, और अरहन्त की चेतना के समान गुरु की चेतना भी योग्य हो गई–इसलिए गुरु पूजा सबसे महत्वपूर्ण है। अगर गुरु मिल जाए तो न चैत्य को पहले पूजना, न पुराण को पहले पूजना, न शास्त्र को पकड़ कर बैठना, न शास्त्र को पूजना। साक्षात् अगर सत्गुरु मिल जाए, तो गुरु की आँखों में झाँकना। गुरु सबसे बड़ा–

''गुरु गोविन्द दोनों खड़े, का के लागूँ पाँय,
बलिहारी गुरुदेव की, गोविन्द दियो बताय।''

अगर गुरु मिल जाये तो गोविन्द भी बाद में, पहले गुरु, क्योंकि गोविन्द का रास्ता बतलाने वाले भी गुरु है। गुरु वह है, जिसकी आँखों में वह दिव्यता उतरी है। गुरु वह है, जिसकी वाणी से अर्हंतो की देशना निकलती है। गुरु वह, जिसकी चेतना निर्लिप्त और निर्ग्रन्थ हो गयी है। ऐसा गुरु कहीं मिले तो उसकी पूजा करना–उसे लग्न समझना, उसे stationary centre जान कर, उसे केन्द्र बनाना और उसकी परिक्रमा करना। अपने मन को स्वतंत्र छोड़ना, कि वो हर वक्त गुरु की परिक्रमा करता रहे, हर क्षण गुरु के गुणों का ही गान करता रहे, हर क्षण गुरु गुणों का ही ध्यान करता रहे। ऐसे बन जाना। तब वे गुरु हमें तारेंगे। कल्याण करेंगे।

लेकिन यहाँ एक अड़चन हो सकती है; क्योंकि दुनिया में ऐसा तो कोई स्थान है ही नहीं, जहाँ अड़चन न हो। हो सकता है, हम जिसको गुरु समझ बैठें वो भी स्वयं राग-द्वेष, मोह-माया व साम्प्रदायिकता से जकड़े शिक्षक मात्र हो; तो ख्याल रखना, कि अगर राग-द्वेषयुक्त व्यक्ति की परिक्रमा कर ली, तो तुम तो डूबोगे ही, वह भी डूबेगा। ''हम तो डूबे ही डूबे सनम, तुम्हें भी साथ लेकर डूबेंगे।'' इसीलिए पहचान करनी बड़ी आवश्यक है कि गुरु वह, जो निर्लोभी है। गुरु वह, जो निसंग है। गुरु वह, जो निर्ग्रन्थ है। कहीं ऐसा ना हो कि वह केवल किताबें पढ़ कर आगे से आगे ट्रॉन्सफर कर रहा है, पाठ सिखा रहा है, केवल परिपाटियाँ सिखा रहा है। जो परिपाटियों में बाँध रहा है, जो आप को

केवल क्रिया विधि दे रहा है, वो गुरु नहीं हो सकता। वो अध्यापक हो सकता है, शिक्षक हो सकता है।

शिक्षक और गुरु में भेद है, भिन्नता है। जैसे स्कूल-कॉलेज में टीचर्स होते हैं, वैसे धर्म क्षेत्र में भी धार्मिक टीचर्स होते हैं; और जो ये धार्मिक टीचर होते हैं, वे केवल परिपाटियाँ सिखाते हैं-सामायिक-प्रतिक्रमण के पाठ रटा देंगे। बोल-थोकड़े भी रटा देंगे और भी कई प्रचलित परिपाटियाँ सिखा देंगे, लेकिन उनकी वास्तविक समझ नहीं देंगे। दर्शन नहीं देंगे। आपकी आँखें नहीं खोलेंगे। जो अन्दर की आँखें खोलता है, वह गुरु होता है। जो अन्तर् की आँखें खोलता है, वह विवेक देता है। वो यह नहीं कहता, कि 'मैं सच्चा हूँ, मुझे follow करो।' जो यह कहे कि मैं सच्चा हूँ, तुम मुझे follow करो-तभी पहचान जाना, यह अभी गुरु नहीं है। गुरु तो कहेगा-कि ना मैं सच्चा, ना मेरा सच्चा; केवल जो सच्चा है, हम उसकी उपासना करते हैं। केवल, जो सत्य है हम उसके लिये समर्पित हैं, खुले हैं, शोधी हैं। न मानेंगे, न नकारेंगे। जो हमें बदल दें, हमें सीमामुक्त कर दें, उसे सत्य रूप जानेंगे। हम 'मैं' और 'मेरे लिए' समर्पित नहीं हैं। ऐसे गुरु को हो सकता है, जनता ने न माना हो, न जाना हो, न ही कभी आदर दिया हो क्योंकि अक्सर ऐसे गुरुओं को जनता कभी नहीं मानती बल्कि उनके प्रति झूठी-सच्ची बातें फैलाकर, उन्हें अपनी मान्यताओं के तराजू पर तौल कर खोटा साबित करने की चेष्टा करती है। जनता, जो परिपाटियों को follow करता है, उसी को आदर देती है, और सच्चा गुरू जो होता है, वह कभी परिपाटियों का गुलाम नहीं होता; क्योंकि वह अनुयायी होता ही नहीं, वह तो 'आयायी' होता है। आयायी यानि उसकी आत्मा से ज्ञान आता है, और अनुयायी यानि किसी का अनुकरण करता है। अनुकरण करने वाले तो हज़ारों-लाखों मिल जाएँगे, लेकिन जिसकी आत्मा से ज्ञान आया है, ऐसे बहुत कम होते हैं।

आत्मज्ञानी श्री विराट गुरूजी का कहना है कि 'साधारण व्यक्ति जो सृष्टि की इस भ्रमचकरी में सत्व को पहचान नहीं पाता है, उसे तो साधु रूप गुरू का शरणा पवज्जित करना ही उचित है ताकि वह तरह-तरह की भ्रमणा, विवाद आदि से बच सके। सत्गुरू शिष्य की मूल प्रवृत्ति का रहस्य जानकर उसे सन्मार्ग दिखा देते हैं।

कहते हैं, एक सूफी फकीर हुआ। हसन नाम था उसका। जब वह फकीर नहीं था, एक साधारण गृहस्थ था, तब उसके मन में बड़ी भावना थी, कि मैं भी एक दिन जाऊँ और हज की यात्रा कर के आऊँ। मुसलमानों में हज की यात्रा पवित्र यात्रा मानी जाती है। एक मोमीन का सपना होता है, मनोरथ होता है कि वह किसी दिन हज पर जा पाए। उस समय में, उस ज़माने में हज की यात्रा करना इतना आसान भी नहीं था। बड़ा विकट रास्ता था और आम आदमी की इतनी कमाई भी नहीं होती थी कि वह बड़ी-बड़ी यात्राएँ कर सके। हसन ने फिर भी बड़ी भावना से इतनी पूँजी जोड़ी कि जाऊँगा और हज करके आऊँगा। उसके मन में जो भक्ति थी, जो पिपासा थी ज्ञान की, उस परमात्मा से साक्षात्कार की, वह कैसी अद्‌भुत रही होगी। हसन अपने गाँव से बाहर निकला, गाँव के बाहर तक लोग उसे छोड़ने आए और छोड़कर लौट गये।

वह गाँव से थोड़ा आगे गया, कि वहीं गाँव के बाहर पगडंडी पर एक वृक्ष के नीचे उसे एक फकीर बैठा मिला। उस फकीर ने जब हसन को आते हुए देखा, तो पूछा कि 'कहाँ जा रहे हो?' हसन ने कहा, 'हज की यात्रा के लिए जा रहा हूँ।' फकीर बोला, 'क्या करोगे वहाँ जा कर?' अभी कोई हमें पूछे, कहाँ जा रहे हो, सम्मेद शिखर जी जा रहे हैं, गिरनार जी जा रहे हैं। फिर पूछने वाला कहे कि भईया क्या करोगे वहाँ जा कर? तो कहेंगे, वहाँ भगवान की मूर्ति है, परिक्रमा करेंगे। हसन ने भी कहा, 'वहाँ काबा का पवित्र पत्थर है।' वे लोग भी उस काबा के पवित्र पत्थर की परिक्रमा करते हैं। यह परिक्रमा का विज्ञान वे यहीं से लेकर गये हैं। यहीं से पहुँचा है, यह परिक्रमा का विज्ञान। उसने कहा कि, 'मैं जाऊँगा। वहाँ परिक्रमा करुँगा।' उस फकीर ने कहा, 'मेरी ही परिक्रमा कर लो।' रहा होगा वह कोई पहुँचा हुआ फकीर। वरना कोई ऐसा कह दे अपने मुँह से? कोई साधारण बात तो नहीं है। उसने कहा, 'यहीं परिक्रमा कर लो।' और हसन! कैसा व्यक्ति, बिना कुछ सोचे-समझे, प्रश्न किये बिना, कोई प्रश्न उठा भी नहीं उसके दिमाग में, कि कहने वाला कौन है, किस जात का है, किस नाम का है, कहाँ से आया है, क्यों कह रहा है-कोई प्रश्न नहीं। कोई तर्क नहीं

पूज्य श्री विराट गुरूजी कहा करते थे अपने शिष्यों को कि 'जहाँ तर्क, वहाँ नरक।' कोई तर्क नहीं, हसन उसी वक्त अपना सामान वहीं छोड़, उस फकीर की परिक्रमा करने लगा। वृक्ष समेत, उस फकीर की परिक्रमा करता

गया। जैसे ही उसकी परिक्रमा पूरी हुई, उसने माथा झुकाया, सिर ज़मीन पर टेका, कि बस, घटना घट गई। उसके अन्दर एक दिव्य ज्योति प्रविष्ट हो गई; और वह वहीं पर बैठ गया ध्यान में। कहते हैं, कि हफ्ते भर तक वहीं बैठा रहा वह, ध्यान में मस्त है।जिसके लिए वह जा रहा था, वह घटना वहीं घट गई।

गुरूर्ब्रह्मा, गुरूर्विष्णु, गुरूर्देवो महेश्वरः।
गुरू साक्षात् परब्रह्म, तस्मै श्री गुरूवे नमः।।

अगर पात्र तैयार हो तो घटना कहीं भी घट जाती है। गुरु कहीं से भी आ जाएगा, आएगा गुरु, केवल पात्र तैयार होना चाहिये। केवल योग्य छात्र तैयार होना चाहिये; गुरु स्वयं आता है। उसने परिक्रमा की, वहीं रुक गया और एक हफ्ते में घर लौट कर आया। गाँव वालों ने कहा, यह क्या बात हो गई? आप हज को गए थे, कर आए हज यात्रा? उसने कहा, 'हाँ, मेरी हज यात्रा पूरी हुई। मैं जिसके लिए जा रहा था, जिस प्रयोजन से हज के लिए जा रहा था, वह प्रयोजन मुझे यहीं सिद्ध हो गया।' लोगों को बड़ी हैरानी हुई, 'यह कैसे?' यह कैसे-यह प्रश्न वे पूछना ही चाहते थे, लेकिन प्रश्न पूछने के लिए जैसे ही हसन की आँखों में देखा तो उन्हें पता लगा, यह हसन वो हसन नहीं है, जो यहाँ से गया था-इसकी आँखें बदल चुकी है।

जिसके भीतर दिव्य आभा उतरी हो, उसके नेत्र बदल जाएँगे। जिसके भीतर दिव्य आभा उतरी है, दिव्य प्रकाश आया है; उसके नेत्र अब साधारण नेत्र नहीं है। उसके नेत्रों में एक अलौकिक आभा उतर आई है। लोग शान्त हो गए। लोगों को समझ में आ गया कि अब यह हसन वो हसन नहीं है। हसन ने नहीं बदले थे वसन किन्तु बदल गए थे उसके रंग-ढंग। जो गया था, वह नहीं है। जो लौटा है, वो कुछ और है। आप भी अगर गुरु के द्वार पर गए और गुरु के द्वार से लौटे हो, तो लौटने पर लोगों को पता लग जाना चाहिए-कि हाँ! ये जो गए थे तब दूसरे आदमी थे और जब आए हैं तब ये कोई दिव्य आभा लेकर आए हैं। और ऐसी आभा लेकर जाते हो, तो समझना, कि गुरु के द्वार पर गए थे। हमारा सिर झुका था, गुरु का दर्शन हुआ था। और यदि ऐसा कुछ नहीं हुआ, तो समझ लेना कि अभी गुरु का दर्शन नहीं हुआ। किया होगा किसी चमड़ी का दर्शन, किसी देह का दर्शन कर लिया होगा; लेकिन अभी गुरु का दर्शन नहीं हुआ। जिसे गुरु का दर्शन होता है, उनके आँखों की भाषा बदल जाती है। उनके जीवन

की परिभाषा बदल जाती है।ऐसा पवित्र दर्शन हो सकता है, यदि चैत्य पूजा गुरु पूजा के रुप में करें तो।

गुरु सबसे बड़ा है। जो कोई गुरू चरणों में पर्युपासना करता है, उसे गुरू का अतिशय रूपान्तरित कर ही देता है। जो स्वयं राग-द्वेष से परे है, वही शिष्य को पार ले जा सकता है।विराट गुरूजी स्पष्ट कहा करते कि जो व्यक्ति केवल दिखावटी कठोर आचरण को देखकर प्रभावित होता है, वह गुरू पद से बहुत दूर है क्योंकि हठाग्रहयुक्त कठोर आचरण तो मूढ़ भी कर सकता है, जैसे कमठ ने किया। केवल दिखावटी आचरण व्यक्ति को साधु व गुरू नहीं बना सकता। ध्यान रखना, गुरू की वाणी में अतिशय होगा। हर शंका का सरल समाधान होगा। आग्रह कदापि नहीं होगा। साधु की कथनी-करनी में अन्तर नहीं होगा। दिखावटीपना, लौकिक एषणा, औपचारिकतावश की गई परिपालना संयम कदापि नहीं हो सकती क्योंकि आचार संहिता का पालन तो 'जावणिज्जाए' होता है। यथाशक्ति ही निस्सीहि होता है। मगर सरलता तो साधुत्व की प्रथम पहचान है।तेरी-मेरी, आँटेबाजी, ग्रह कलह, संघ फूट आदि की चुपके-चुपके सिखावण करने वाला, यश का लोभी, धर्मस्थान में धन का व्यवहार करने वाला, कोई व्यन्तर यक्ष आदि का चहेता, जादूगर तो हो सकता है, समण-निर्ग्रन्थ साधु नहीं।गुरू होना तो बहुत दूर की बात है।

अक्सर जो सद्गुरू होते हैं, वे तो प्रसिद्धि से दूर होते हैं। कष्टों से घिरे अथवा काँटों का ताज पहने होते हैं। इसीलिए जो लोग वैभव में गुरू को तलाशते हैं, वे अक्सर भटक जाते हैं। गुरू साधारण में असाधारण होते हैं। वे निर्लोभी और निर्द्वन्द्व होते हैं। इसीलिए अरहंतों व सिद्धों के साक्षात् चैत्य गुरू ही होते हैं। इस तरह हम देखें कि तीन तरह की चैत्य पूजा है-पुराण पूजा, सूत्र पूजा, जिसे शास्त्र पूजा भी कह सकते हैं; और तीसरी गुरु पूजा। तीनों ही चैत्य हैं; और जब हम कहते हैं वन्दना में 'चेइयं', तो हम गुरु को साक्षात् चैत्य रूप अनुभव करते हैं-ज्ञान के चैत्य, अर्हन्त के चैत्य, सिद्ध के चैत्य। हम साक्षात् अनुभव करते हैं, कि गुरु में वो दिव्य आलोक है और उस आलोक की हम पूजा कर रहे हैं। हम गुरु में उस धर्म को स्वीकार करते हैं, इसीलिये चौथा शरणा, जो धर्म का शरणा है, वो हम गुरु में ग्रहण करते हैं।

'केवली पण्णत्तं धम्मं शरणं पवज्जामि'

धर्म की शरण हम गुरु में ग्रहण करते हैं, जब हम चेइयं पद बोलते हैं। इसलिये जब बोलो 'चेइयं', तब उस भाव धारा में प्रविष्ट हो जाओ। 'चेइयं' बोलने के साथ ही अनुभव करो, कि मैं साक्षात् धर्म के स्वरुप को, धर्म के पिण्ड को पूज रहा हूँ। मेरे सामने साक्षात् धर्म मूर्तिमंत होकर खड़ा है। धर्म ही, धर्म वाणी ही मूर्तिमंत होकर मेरे सामने मौजूद है, और मैं उनकी परिक्रमा कर रहा हूँ, उनको वन्दना कर रहा हूँ, उनको नमस्कार कर रहा हूँ। जब इतनी साधना हो जाए तब एक अन्तिम पद बचेगा, 'कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं' के बाद 'पज्जुवासामि'। पज्जुवासामि पद का विवेचन अगले अध्याय में। आज इतना ही।

ॐ शान्ति! ॐ शान्ति! ॐ शान्ति।।

आज बनूँ मतवाला मैं

पर्युपासना करते करते, आज बनूँ मतवाला मैं
होकर निस्सीहि, आगम सुर का, आत्म रमण पी प्याला मैं
आज बनूँ मतवाला मैं ।। टेर ।।
उत्तम लेश्या प्रतिपल फूटे, मैं तो बस गुणगान करूँ।
अतिशय की वर्षा आनन्दकर, बिना किए कुछ स्नान करूँ।
करूँ समर्पण बिखरे मन का, समकितपन की हाला में।।1 ।।
आज बनूँ मतवाला मैं....
खेंच तान कर जान लिया जग, सब सौदागर मतलब के।
चैन कहाँ इस लेन देन में, कच्चे हैं वादे सब के।
ज़िद्द की झूठी जुगत जगत यह, मैंपन की मधुशाला में।।2 ।।
आज बनूँ मतवाला मैं....
की संग्रह जग की हर इत्तला पर खुद से अनजान रहा।
संबंध परिषद् की मद माया में, निज का कब ध्यान रहा।
पा न सका निज सत शीतलता, तपा सदा भ्रम-ज्वाला में।।3 ।।
आज बनूँ मतवाला मैं....
भोगा हर सुख-दुःख घटता है, ज्यों भोगी त्यों उमर घटी।
मन का मता हटा भावों से, सुख दुःख की आकृति हटी।
चेतन को कैसा जड़ बंधन, खोलूँ ग्रंथी ताला मैं।।4 ।।
आज बनूँ मतवाला मैं.....
मैं ही दर्शन ज्ञानानन्दबल, अर्हत् सिद्ध गुरू रहे कृपा।
पर्युपासना प्रकट मुक्ति है, निर्वाणी मन्तर् अजपा।
मर्यादित निज में 'विराट' हूँ, वद्य स्वभाव निराला मैं।।5 ।।
आज बनूँ मतवाला मैं.....

पज्जुवासामि-पर्युपासना

आगम ज्ञान एवं ज्ञानी भगवन्तों को भाव वन्दना। भव्य आत्माओं की भव्यता को प्रणाम।

जीवन में अपने इष्ट के प्रति, अपने लक्ष्य के प्रति समर्पित भावों में रमण करने वाले साधक का चित्त सतत् अपने लक्ष्य की परिक्रमा करता रहता है। जिसका चित्त निरन्तर लक्ष्य की परिक्रमा करता है, वही व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त भी करता है। कई ऐसे लोग भी हैं जो अपने लक्ष्य का निर्धारण तो कर लेते हैं लेकिन कुछ समय के बाद अपने लक्ष्य को ही भूल जाते हैं। उनका वह लक्ष्य ही विस्मृत हो जाता है। अनेकों लोग ऐसे भी हैं, जिन्हें यह ही नहीं पता कि हमारा इष्ट क्या है? लक्ष्य क्या है? मात्र विरले ही होते हैं, जिनकी चेतना अपने लक्ष्य को सतत् समर्पित होती है। अपने इष्ट को समर्पित होती है। अपने गुरू को समर्पित होती है। धर्म को समर्पित होती है। जिनकी चेतना देव, गुरू, धर्म को समर्पित होती है, जिनकी चेतना मुक्ति को समर्पित होती है-वे इस संसार में रहते हुए भी अपनी गति को मोक्ष गति में मिलाते जाते हैं। अपनी गति ऐसी बना लेते हैं कि मुक्त आत्माओं के साथ उनकी गति मिल जाए।

'मोक्ष गति की आत्माओं में एक गति मेरी मिला लूँ।'

अब उनकी आँखें उन आत्माओं को ही देखती है, उन्हें ही तलाशती है, जो संसार के किनारे पर पहुँच चुकी है। संसार में तो कई प्रकार के लोग हैं लेकिन अब वह व्यक्ति उन सारे लोगों से अपना संबंध नहीं रखता है। जिसका लक्ष्य 'मुक्ति' है, वह उन्हीं से संबंध जोड़ता है जो स्वयं मुक्त है। बन्धन को प्रिय समझने वाले लोगों के साथ अपना संबंध नहीं जोड़ता। उनके साथ जीता तो है, रहता तो है, लेकिन उनके साथ वह संबंधित, आसक्त, मोहग्रस्त नहीं होता। उनमें स्वयं को खो नहीं देता। स्वयं को उनमें शरीक नहीं कर देता।

इस लोक में किसी भी व्यक्ति की उपस्थिति मात्र दैहिक ही नहीं होती। आदमी भौतिक लोक में भी रहता है, और साथ-ही-साथ अपने मानसिक लोक में भी रहता है। भौतिक लोक में शारीरिक स्तर पर अनपढ़, ग्रामीण,

झगड़ालु, निम्न वृत्ति वाले लोगों के बीच रहना व्यक्ति की मजबूरी हो सकती है। संभव है, उसका शरीर उनके साथ रहता हो, लेकिन उसकी मानसिक उपस्थिति भी वहाँ हो-यह ज़रूरी नहीं। जीवन-विज्ञान को जानने वाले लोग कहते हैं कि 'इंसान अपने भावों में जिसके साथ रहता है, उसका संबंध उनके साथ होता है।' अगर इस जन्म में उसका संबंध उनके साथ नहीं हुआ है तो भविष्य में ज़रूर वह उन लोगों के बीच रहेगा।

यही कारण है कि लोग संसार छोड़कर संन्यस्त हो जाते हैं, क्योंकि जिस भाव दशा में वे जीना चाहते हैं, उस तरह की भावधारा वाले लोगों का सम्पर्क, वैसा माहौल यदि उन्हें नहीं मिलता तो वे उन लोगों को छोड़कर ऐसे लोगों के पास चले जाते हैं, जो उस तरह की अथवा उससे भी उच्च भावदशा में होते हैं। व्यक्ति का संबंध शरीर मात्र से नहीं, भावों से होता है, मन से होता है। मन जहाँ जुड़ता है, वहाँ हमारे संबंधी है। जहाँ नहीं जुड़ता, वहाँ हमारा कोई संबंधी नहीं।इसीलिए तो कवि कहता है -

जल में बसे कुमुदिनी, चन्दा बसे आकाश।
जो जाहि को भावता, सो ताहि के पास।।

कुमुदिनी जल में होती है और चन्द्रमा आकाश में। लेकिन फिर भी कुमुदिनी का संबंध जल से कम और चन्द्रमा से ज्यादा होता है। जल से उसका संबंध दैहिक संबंध है और चन्द्रमा से भावनात्मक संबंध है। इसलिए जैसे ही आकाश में चन्द्रमा खिलता है, वैसे ही सरोवर में कुमुदिनी भी खिल जाती है, क्योंकि उसका समर्पण चन्द्रमा के प्रति है, उसका सम्बन्ध चाँदनी के साथ है।

कमल कीचड़ में रहता है, दैहिक उपस्थिति उसकी कीचड़ में है, कीचड़ में ही उसका जन्म है, कीचड़ में ही उसका जीवन है; लेकिन फिर भी वह कीचड़ में नहीं जीता है।रहता कीचड़ में है किन्तु जीता कीचड़ में नहीं.....।ज़रा ध्यान दें!! हम लोग इस छोटी-सी बात पर, इस छोटे-से तथ्य पर कि रहना कीचड़ में लेकिन जीना कीचड़ में नहीं। हमें ऐसे लोगों के साथ रहना पड़ सकता है जो चारों ओर से कीचड़ से सने हो, बंधन में हो, आग उगल रहे हो, ज्वालाएँ फेंक रहे हो-ऐसे लोगों के बीच रहना हमारी मजबूरी हो सकती है, लेकिन जीना नहीं। कमल जीता है सूरज के साथ। उसका समर्पण सूर्य के प्रति है। सूर्य उगता है, तो कमल खिलता है और सूर्य के छिपते ही, वह भी बन्द हो

जाता है।

इसी प्रकार, शिष्य रहता संसार में है लेकिन जीता संसार में नहीं। 'शिष्य' रहता संसार में है लेकिन जीता गुरू के चरणों में है। जीता गुरू की आज्ञा में है। जीता वह गुरू के भीतर है। उसका जीवन गुरू में है। वह जानता है कि संसार में रहने के लिए उसका शरीर मजबूर है, लेकिन भाव कभी मजबूर नहीं है। इस संसार में चाहे जितनी भी पराधीनता हो जाए, लोग कितनी ही बेड़ियाँ डाल दे, बंधन बाँध ले, लेकिन मन पे किसका बँधन चलता है ? भावों पर किसी का कोई बँधन नहीं चल सकता। 'भाव' यहाँ-वहाँ-सब जगह जा सकते हैं; और जहाँ भाव जाएँगे, एक दिन वह व्यक्ति भी निश्चित ही वहाँ पहुँच जाएगा। व्यक्ति को वहाँ पहुँचना ही पड़ेगा। शास्त्र-वेद-पुराण भरे पड़े हैं ऐसे कथानकों से, कि व्यक्ति का भाव जहाँ था, उसे मर कर वहीं पैदा होना पड़ा।

नंद मणिहार के जीव का मेंढ़क के भव में भाव था कि मैं भगवान महावीर के दर्शन को जाऊँ, लेकिन जा नहीं पाया और मर गया; किन्तु मरने के तुरन्त बाद आया भगवान महावीर के चरणों में। इसीलिए, 'भाव' महत्वपूर्ण है। भावों में हमारी उपस्थिति कहाँ है। हमारी नज़रें अपने भावों से किसे देखती है, किसे तलाशती है.....

जिन्होंने हो तुझे देखा, नयन वे और होते हैं।
कि बनते वन्दना के छन्द, क्षण वे और होते हैं।।
यहाँ गुलज़ार गुलशन, अजब सब फूल तेरे हैं।
लगे पर जो गले तेरे, सुमन वे और होते हैं।।
गहन वन गर्त खाई देख चलना है मुनासिब पर।
तुझे ही देखते चलते मगन वे और होते हैं।।

जो पर्युपासक है, वह केवल 'गुरु' को देखता है। गुरु के चरणों में वन्दना करता हुआ, वह गुरु में ही तीनों लोक पा लेता है। गुरु से बाहर न कोई नरक लोक है, न कोई स्वर्ग लोक है, न ही मनुष्य लोक है। उसके लिए सब कुछ गुरु है। इसीलिए कहा भी जाता है कि उपासक जब गुरु की परिक्रमा करता है, तो वह गुरू को तीनों लोक समझ कर उनकी परिक्रमा करता है और परिक्रमा करते-करते उसके तीन लोकों के अशुभ बँधन कट जाते हैं।

पुराणों में एक बड़ी प्यारी कथा आती है। एक बार कार्तिकेय के मन में आया कि मैं शादी रचाऊँ। तो कार्तिकेय ने अपने माता-पिता शिव-पार्वती से बोला कि मेरी शादी कर दो। गणेश भी पास में बैठे थे। उनका भी मन हुआ कि मेरी भी शादी कर दो। माता-पिता बोले-अच्छा, पहले किसकी शादी करें-गणेश की या कार्तिकेय की? तो एक छोटी-सी बात उनके बीच रख दी गई कि पहले उसकी शादी करेंगे जो तीनों लोकों की परिक्रमा करके पहले आएगा। जो पहले तीन लोक की परिक्रमा करके आएगा, उसकी शादी पहले करेंगे।

अब आप सब लोग जानते ही हैं कि गणेश जी का वाहन है चूहा, और कार्तिकेय का वाहन है मयूर। कार्तिकेय जी यह बात सुनते ही तुरन्त निकल गए, क्योंकि शादी की इच्छा मन में बड़ी तीव्र थी। सोचा, गणेश तो अपने चूहे पर सवार होकर जाने कब तक आएगा। लेकिन गणेश जी भी गणेश हैं। जो गणेश (गण+ईश) होते हैं, वे बड़े प्रज्ञासम्पन्न होते हैं; तभी तो वे समूह के, गण के स्वामी होते हैं, मालिक होते हैं, राजा होते हैं। गणेश जी सूक्ष्मबुद्धि से संपन्न है। उन्होंने पल भर सोचा, फिर अपने माता-पिता को पास-पास बिठाया और फिर वहीं पर उनकी तीन परिक्रमा कर ली। परिक्रमा करके फिर वहीं बैठ गए। कार्तिकेय अपने मयूर के साथ आए, गणेश को वहीं बैठा देखकर कहा, 'यह क्या गणेश, तू अभी रवाना नहीं हुआ? तू अभी तक यहीं बैठा है?' गणेश बोले-'मैंने तो आपसे पहले परिक्रमा कर ली।' 'मुझसे पहले परिक्रमा कर ली, वह कैसे ?' 'माता-पिता से बढ़कर और कहीं तीन लोक है क्या! मैंने माता-पिता की परिक्रमा कर ली, मेरी तीन लोक की परिक्रमा हो गई।'

कहते हैं, रावण के पास बहुत लब्धियाँ-सिद्धियाँ थी। बहुत शक्तियाँ थी। उसका पुत्र इन्द्रजीत, जो अनेकों ऋषियों-मुनियों के पास पहले ही शिक्षा ग्रहण कर चुका था, चाहता था कि मेरे पिता, जो इतने विद्वान है, शक्ति सम्पन्न हैं, विष्णु को भी परास्त करने वाले हैं, उनसे भी मैं लब्धियाँ प्राप्त करूँ। वह पिता के पास जाकर निवेदन करता है कि आप भी मुझे सिद्धियाँ प्रदान करें। तब रावण ने उसे सिद्धि प्राप्त करने का तरीका बताया, और इन्द्रजीत ने उसी समय पिता की परिक्रमा की। पिता की परिक्रमा करके उनके चरणों में मौन होकर बैठ गया।

परिक्रमा करने से पूर्व ही व्यक्ति अपना अहंकार तो छोड़ ही चुका होता है। 'वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि' की घटना उसके भीतर घट रही होती है। वह गुरु में ही चार शरण देखता है, तीन लोक देखता है। अब वह खुद कुछ अलग बचता ही नहीं। कुछ बोलने के लिए भी अब कुछ नहीं रहता। उसका समर्पण इतना गहन हो जाता है कि वह चुपचाप गुरु चरणों में बैठ जाता है, और चुपचाप जो बैठ जाए गुरु के पास, उसी का नाम है ''पर्युपासना'', ''पज्जुवासामि''। परिपूर्ण उपासना का नाम है-पज्जुवासामि।

गुरु-वन्दना के पाठ में हम बोलते हैं-

वन्दामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं
मंगलं देवयं चेइयं और पज्जुवासामि।

पज्जुवासामि का अर्थ होता है, 'मैं पर्युपासना करता हूँ।' अब पर्युपासना घटित हो रही है, अब शिष्य गुरु के समीप बैठा है, उपासना में है। 'उपासना' शब्द हर धर्म में प्रचलित है। हर धर्म की साधना-पद्धति में उपासक, अपने इष्ट की उपासना करता है, अपने इष्ट के पास बैठता है। अपने गुरु के समीप बैठता है। बिना समीप बैठे कभी ज्ञान नहीं हो सकता। आप देखो! जब किसी पुत्र को अपने पिता से कोई कला सीखनी होती है-चाहे वह शिल्पकला हो, वास्तुकला हो, मूर्ति कला हो, चित्रकला हो, निमित्त ज्ञान हो, सामुद्रिक ज्ञान हो, अथवा चाहे वह व्यापार की कला ही क्यों न हो-तो एक कुशल पिता अपने बेटे से कहता है, 'बेटा! दुकान आकर मेरे पास बैठ और मुझे देख। सीखने का एक ही तरीका है कि तू पास बैठ और देखता जा।' कुछ बताया नहीं जाएगा, कोई instructions नहीं दिए जाएँगे, केवल पिता को देखो, पास में बैठो। पास में बैठकर ही ज्ञान आ जाएगा, तुम सीख जाओगे। जिन्हें देखकर नहीं आएगा, उन्हें बोलकर ज्ञान दिया जाएगा। बोलकर सिखाना होगा। पुराने लोग इसी बात पर ज़ोर देते थे कि तुम आओ, शान्ति से बैठो और देखो। जिस दिन शान्त होकर बैठना सीख जाओगे, उस दिन तुम्हें व्यापार करना आ जाएगा। इसीलिए अच्छे पिता, अच्छे शिक्षक, अच्छे गुरु ने अपने शिष्यों को कभी बहुत सारे निर्देश नहीं दिए, मात्र पास में बैठना सिखाया। सम्यक् निरीक्षण करना सिखाया।

आज तो हर चीज़ तुरन्त चाहिए। बड़ा fast युग है। आज हमारी नई

पीढ़ी चुपचाप बैठ ही नहीं सकती। अगर उन्हें यह कह दिया जाए कि तुम दुकान पर आकर चुपचाप बैठ जाओ, तो वो कहेंगे, 'बोर हो रहे हैं। काम क्या करना है, कैसे करना है-सब कुछ बोल कर सिखाओ।' लेकिन, हकीकत है कि बोलना सदा सीमित होता है। शब्दों की सीमा होती है। शब्दों में कभी अथाह ज्ञान नहीं दिया जा सकता है। गहरा ज्ञान हमेशा बिना बोले, निःशब्द मौन अवस्था में हस्तांतरित होता है। तभी तो, प्रभु महावीर की स्तुति करते हुए किसी आचार्य भगवंत ने लिखा है-हम लोग आपकी वीतराग मुद्रा को देखकर भी यदि कुछ नहीं सीख सकते, तो आपका बोला हुआ सुनकर हम क्या सीख पाएँगे। अगर हम लोग देखकर नहीं सीख सकते, तो और भला सीखने का क्या उपाय रहेगा? इसलिए, देखना ज़रूरी है, पास बैठना ज़रूरी है। जिसे मौन होकर पास में बैठना आ गया, उसे 'पर्युपासना' करनी आ गई।

आप्तज्ञानी सद्‌गुरुदेव पूज्य श्री विराट गुरुजी कहते हैं कि शिष्य में इतना धैर्य, इतना समर्पण हो कि वह गुरु के पास मात्र बैठना सीख जाए। पर्युपासक की यह भावना होः-

आसीन गुरु के पास मात्र देखता रहूँ।
यूँ चेतना की सूक्ष्म लहरें लेखता रहूँ।।

'आसीन गुरु के पास' यानि गुरु के समीप बैठकर मैं मात्र गुरु को देख रहा हूँ.....। बहुत आवश्यक है कि हम मात्र गुरु को ही देखें। इसीलिए पहले हमने कहा-'गहन वन गर्त खाई, देख चलना है मुनासिब.....।' कोई शिष्य मार्ग को देख सकता है, मार्ग में आने वाली बाधाओं को देख सकता है, राह ऊबड़-खाबड़ है-यह देख सकता है, कहाँ बीहड़ वन है, कहाँ खाई है, कहाँ गड्ढे हैं-इन सबको देख सकता है; लेकिन 'तुझे ही देखते चलते, मगन वे और होते हैं'। जो केवल गुरू को देखकर चलते हैं, हकीकत में वे ही उपासक हैं। वे भक्त हैं। वे मगन हैं, क्योंकि उन्हें अपने इष्ट के सिवाय कुछ और दिखाई ही नहीं पड़ता। जिसे अपने लक्ष्य के सिवाय कुछ और दिखाई नहीं पड़ता, केवल वही व्यक्ति अपने लक्ष्य को भेद सकता है। जिसे अपने लक्ष्य के अलावा दूसरी बहुत सारी चीज़ें दिखाई देती है, वह अपने लक्ष्य को नहीं भेद सकता। लक्ष्य चाहे धन कमाने का हो, पद-प्रतिष्ठा पाने का हो, चाहे स्वास्थ्य का हो, मुक्त होने का हो, या गुरु ज्ञान का हो-अगर लक्ष्य हासिल करना है तो उसका एक ही तरीका है, केवल लक्ष्य दिखाई दे, अन्य कुछ और न दिखाई पड़े।

गुरु द्रोण धनुर्विद्या के अभ्यास के दौरान पूछते हैं पाँचों पाण्डवों से- कि तुम्हें सामने वृक्ष पर क्या नज़र आ रहा है ? कौरवों को पूछा, तुम्हें सामने क्या दिख रहा है? सब लोग कह रहे हैं, पूरा पेड़ हमें दिखाई दे रहा है, शाखा-प्रशाखा-तने-पत्ते-सब नज़र आ रहे हैं। वृक्ष पर बैठे पक्षी भी दिख रहे हैं। किन्तु गुरु ने पहले ही परीक्षा निर्धारित की हुई थी। चिड़िया की आँख को लक्ष्य बनाकर बेधना था। अंततः जब अर्जुन को मात्र चिड़िया की आँख दिखाई पड़ने लगी, इसके सिवाय शेष सब कुछ उसके दृष्टिपथ से ओझल हो गया, तब वह उस लक्ष्य को बेध पाया। विद्या वही सीख सकता है, जिसे केवल अपना लक्ष्य दिखाई दे। जिसे अभी दूसरी भी बहुत सारी बातें नज़र आती है, वह विद्या सीखने का अधिकारी नहीं हुआ।

इसी तरह, मोक्ष का रास्ता उसे ही मिलता है, जिसे केवल मुक्त आत्माएँ ही दिखाई देती है। मात्र गुरु ही दिखाई देते हैं। जिसे पूरी दुनिया नज़र आती है, दुनिया के राग-द्वेष नज़र आते हैं, दुनिया का कोलाहल सुनाई पड़ता है, दुनिया की विसंगतियाँ जिसे दिखाई पड़ती है, जिसको दुनिया के लोगों को देख-देखकर बड़ी दया आती है, बड़ी उत्तेजना आती है-वह व्यक्ति अभी अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के योग्य नहीं है। जब कोई व्यक्ति गुरु के पास आकर कहता है-'गुरुदेव देखो! इस संसार में लोग कैसे जी रहे हैं ? कैसे भटक रहे हैं ? कितना गुस्सा करते हैं ? झगड़ते हैं ? आप जैसे लोगों की बातें कौन सुनेगा ?' तो गुरु उसे कहते हैं; 'जा बेटा, तू भी अभी संसार में रह और कर्म योग साध।' वे उसे संसार में वापस भेज देंगे, कि 'तुझे संसार की बुराईयाँ दिख रही है। इसका मतलब तुझे इन बुराईयों में जीना पड़ेगा। जिस दिन तुझे बुराईयाँ दिखनी बन्द हो जाएगी, उसी दिन तू इस रास्ते पर आ सकेगा।'

अधिकांश लोग इसीलिए चूक जाते हैं। वे संसार और समाज की बुराइयों से इतने ज्यादा भरे होते हैं, कि गुरु के दरवाज़े पर आकर भी उनकी जुबान से दुनिया की बुराईयाँ ही निकलती है। तब गुरु समझ जाते हैं कि अभी इसके अन्दर की बुराईयाँ खत्म नहीं हुई है इसलिये अभी इसे कर्मयोग ही साधना पड़ेगा। जिसे कर्मयोग साधने को दिया गया है, समझो उसे अभी प्राथमिक कक्षा में रखा गया है। वरना जिस पर गुरु की कृपा हो जाती है, उसे वे instant मोक्ष दे देते हैं, लेकिन ऐसे शिष्य हर युग में विरले (Rare) होते हैं। हर युग में विरले होते हैं, वे शिष्य, जिन्हें सिर्फ गुरु ही दिखायी दे, इष्ट ही दिखाई दे, लक्ष्य

ही दिखाई दे। ऐसे लोगों को फिर गुरु संसार में नहीं फँसने देते।

वर्णन आता है स्वामी विवेकानन्द की ज़िन्दगी का। जब वे नरेन्द्र ही थे, अभी विवेकानन्द नहीं हुए थे, उनकी माँ उनसे बार-बार कहती थी कि तेरी शादी हो जाए, घर में बहू आ जाए तो मैं भी सुखी हो जाऊँ। वे स्वयं भी महसूस कर रहे थे कि इस बिमारी की दशा में भी माँ को इतना काम करना पड़ रहा है। पिताजी छोड़कर चल बसे और घर की बड़ी दयनीय हालत है। उनके मन में आया, क्यों न मैं शादी कर लूँ। अपने लिए न सही, अपनी माँ के लिए कर लूँ। लेकिन अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस के प्रति उनका इतना समर्पण था कि उनसे बिना पूछे वे कोई कार्य नहीं करते। गुरु की आज्ञा के बिना तो शादी के लिए एक कदम भी आगे नहीं रखा जा सकता था। सो, गुरु के पास गए और पूछा। रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानन्द के हाथ को पकड़ा और कोई नस दबाई। और कहा, 'तू कहीं नहीं जा सकता। तुझे मैं शादी नहीं करने दूँगा।'

सद्‌गुरु सदा ही विचित्र और असाधारण होते हैं। परमहंसदेव यूँ तो कभी नरेन्द्र को किसी भी बात के लिए मना नहीं करते, लेकिन उस दिन उन्होंने मना कर दिया कि 'तुझे मैं नहीं फँसने दूँगा।' वह बड़ा हैरान हुआ, 'ऐसा क्यों? आप किसी को रोकते नहीं। इतने शिष्यो को मैंने देखा है, जिसने जो रास्ता चाहा, आपने सबको अनुमति दी।' उन्होंने कहा, 'तुझे नहीं फँसने देंगे। 'ग़र तू वहाँ फँस गया, तो यात्रा बड़ी लम्बी हो जाएगी। इतने अनुभवों से गुज़र कर तुझे फिर आना होगा, जबकि वे सारे अनुभव तू पार कर चुका है; इसलिए तुझे आवश्यकता नहीं कि तू शादी करें। तुझे इससे आगे की यात्रा करनी है। वापिस पीछे जाकर भटक कर फिर आएगा तो कितने साल व्यर्थ हो जाएँगे, फिर वापिस तू कब काम कर पाएगा।' इसलिए मना कर दिया उन्होंने।

गुरु सब जानते हैं। वे जानते हैं, किसकी कितनी यात्रा हो चुकी है। किसे कब क्या कहना है। लेकिन वे कहते उसी को है, जो पर्युपासक है। जो पर्युपासक नहीं होता, उससे गुरु कुछ नहीं कहते हैं। उसे कहते हैं, 'ठीक है। जो करना है, करो। लड़ना है, तो लड़ो।' यह भी संभव है कि गुरु लड़ने के लिए मना नहीं करे, क्योंकि वे जानते हैं कि ये लड़ेगा, झगड़ेगा, पिटेगा, रोएगा अथवा पीट कर आएगा; तब कहीं जाकर इसे समझ आएगी। इसलिए गुरु उसे जाने देते हैं कर्मक्षेत्र में। लेकिन जब गुरु देखते हैं कि यह व्यक्ति केवल गुरु को

ही देख रहा है, गुरु को ही जी रहा है; उसे गुरु इतना लम्बा रास्ता नहीं पकड़ाते। उसे तो गुरु shortcut बताते हैं, लेकिन ये shortcut उसे ही मिलता है, जिसमें पात्रता हो। उसे यह अपनी योग्यता से मिलता है और योग्यता क्या है इसके लिए.... ? 'योग्यता एक ही है–उसका चित्त गुरु की परिक्रमा करता रहे। उसका चित्त मात्र गुरु की उपासना में लगा रहे।'

इसलिए गुरु वन्दन सूत्र का यह छोटा–सा पद 'पज्जुवासामि' बहुत प्यारा सूत्र है। और, गुरू वन्दन का अन्तिम पद भी। 'पज्जुवासामि' अर्थात् परिपूर्ण रूप से उपासना में लीन हो जाना। इस पद के बाद शिष्य कुछ भी नहीं बोलता है। जैसे ही पज्जुवासामि हुआ, त्यों ही उसकी पूरी चेतना गुरु के चरणों में समर्पित हो जाती है। वह मौन हो जाता है। मूक समर्पण को उपलब्ध हो जाता है। वह उस गहन भावदशा में आ जाता है कि अब उसके मुख से कोई शब्द निकलने जैसी स्थिति नहीं बचती। और ऐसा होता है, अक्सर जब व्यक्ति किसी भी भावदशा की गहन अवस्था में होता है–चाहे वह सुख की गहरी अनुभूति में हो, चाहे दुःख की गहरी अनुभूति में हो, चाहे प्रेम की गहरी अनुभूति में हो–उन क्षणों में व्यक्ति अपनी जुबान से कुछ बोल नहीं पाता। पूरा शरीर उस अनुभूति का प्रतिसंवेदन कर सकता है, लेकिन जुबाँ खामोश हो जाती है। बड़ी गहरी अवस्था होती है यह। जो लोग बहुत ज्यादा बोलते हैं, अक्सर वे लोग उथले होते हैं। ज्यादा बोलने वाले लोग ज़िन्दगी को कभी गहराई से अनुभव नहीं कर पाते। दूसरों की अनुभूतियों से भी एकात्म नहीं हो पाते, उन्हें अपने भीतर महसूस नहीं कर पाते।

एक माँ को भी अगर अपने बच्चे को पढ़ना हो, तो उसे मौन सीखना होता है। बगैर मौन सीखे, बगैर मौन में जिए वह बालक की विभिन्न अवस्थाओं को नहीं पढ़ सकती। इसी तरह, एक शिष्य को अगर गुरू को जीना है, तो गहन मौन में जाना होगा। मौन में उतरे बिना शिष्य गुरु की चेतना से नहीं जुड़ सकता। किसी भी गहरी उपलब्धि के लिए मौन परम आवश्यक है। लेकिन मज़े की बात यह है कि मौन किया नहीं जा सकता। मौन आन्तरिक प्रेम से स्वतः घटित हो जाता है। जिसके भीतर बहुत प्रेम होता है, उसके अन्दर मौन स्वतः आता है। हम देखें, जब कोई ऐसा व्यक्ति जिसे हम अत्यधिक प्रेम करते हैं, हमें अचानक मिल जाता है, तब हम कुछ भी नहीं बोल पाते, उसे greet भी नहीं कर पाते.....। कोई साधारण व्यक्ति मिले, जिससे हमारा कोई विशेष सम्बन्ध न हो, तो हम

जल्दी से हाथ मिला लेते हैं, प्रणाम कर लेते हैं, नमस्कार-अभिवादन कर लेते हैं; लेकिन जिनसे हमें बहुत प्रेम है, जैसे ही उनसे मिलेंगे, हम चुप हो जाएँगे। एक क्षण के लिए हम ठहर जाएँगे। देखने के अलावा और कुछ नहीं होता उस पल में। ठीक इसी प्रकार की अवस्था होती है-पज्जुवासामि की। पज्जुवासामि की अवस्था में शिष्य मौन हो जाता है। अब इससे आगे शिष्य कुछ बोल नहीं पाता। इसलिए गुरु-वन्दना 'पज्जुवासामि' पर पूरी हो जाती है।

प्राचीन शास्त्र-ग्रन्थ-साहित्य को पढ़ने से ज्ञात होता है कि गुरु वन्दन सूत्र 'पज्जुवासामि' पद पर पूर्ण हो जाता है। इसके आगे जो 'मत्थएण वन्दामि' पद है, वह अपने आप में एक अलग सूत्र पद है, लघु वन्दना है। शास्त्रकार इसे 'जघन्य वन्दना' भी कहते हैं। यह वन्दना तब की जाती है, जब रास्ते चलते हुए हमें गुरु भगवन्त के दर्शन हो जाए, जब हमें गुरुदेव के पास बैठना न हो, पर्युपासना नहीं करनी हो, वैसे ही मात्र दर्शन करने हो व मंगल पाठ श्रवण करना हो इत्यादि-तब शिष्य 'मत्थएण वंदामि' यानि 'मैं मस्तक झुकाकर आपको वंदन करता हूँ', ऐसा कहता हुआ प्रणाम करता है। लेकिन जब वह गुरुदेव की उपासना करने के लिए आता है, ज्ञान ग्रहण के भावों से आता है; तब वह गुरूदेव की तीन बार परिक्रमा करता है, फिर उनके समक्ष खड़ा रहकर पाँच अभिगम पद और चार शरण पद-इन नौ पदों से गुरूदेव की स्तुति करता है। 'वन्दामि, णमंसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, पज्जुवासामि'-ये पाँच पद अभिगम पद है; क्योंकि इन्हें करता हुआ शिष्य पाँच अभिगमों से युक्त हो जाता है। इसका वर्णन हम सुन चुके हैं। इन पाँचों पदों में 'आमि' प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ होता है-'मैं करता हूँ।' वन्दामि यानि वन्दन करते हुए शिष्य के सचित्त त्याग नामक प्रथम अभिगम धारण होता है। इन पदों के साथ अभिगम युगपत् (simultaneously) घटित होते हैं।

वन्दामि-सचित्त त्याग, वन्दन करता हूँ।
णमंसामि-अचित्त विवेक, नमन करता हूँ।
सक्कारेमि-उत्तरासंग धारण, सत्कार करता हूँ।
सम्माणेमि-हाथ जोड़ना (अंजलिकरण), सम्मान करता हूँ।
पज्जुवासामि-चित्त की एकाग्रता, पर्युपासना करता हूँ।

'पज्जुवासामि' से पहले 'कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं'–ये चार पद शरण पद कहलाते हैं। 'कल्लाणं' पद से स्तुति करते हुए शिष्य भाव करता है–'हे गुरुदेव! आप मेरे लिए कल्याण रूप हो।' 'मंगलं' अर्थात् 'आप मेरे लिए मंगल रुप हो।' 'देवयं' अर्थात् 'आप मेरे लिए दिव्य रूप हो, अभौतिक हो।' 'चेइयं' अर्थात् 'आप मेरे लिए ज्ञान पुंज हो। अरहंतों की वाणी का साकार रूप हो। ज्ञानियों की स्मृति रूप हो। साक्षात् मूर्तिमंत हो।' इन चार स्तुति पदों से गुरुदेव की स्तुति करता हुआ शिष्य गुरुदेव में ही अरहंत सिद्ध– साधु और धर्म को साक्षात् महसूस करता है। अरहंत, सिद्ध, साधु व धर्म की शरण वह गुरु में ही ग्रहण करता है। इसलिए इन्हें चार 'शरण पद' कहा है।

इस प्रकार स्तुति करने के बाद समर्पण की उत्कृष्ट भावधारा में अवस्थित शिष्य के भीतर 'पज्जुवासामि' यानि परिपूर्ण उपासना की स्थिति घटित होती है। इसलिए यह अन्तिम पद है। यहाँ शिष्य मौन हो जाता है और बैठ जाता है, गुरु के चरणों में। यह उपासना है, पर्युपासना है। इसके पश्चात् शिष्य के भीतर रूपान्तरण घटित होता है, जो मात्र अनुभवगम्य है। जिन्होंने पर्युपासना की, उन्होंने जाना। उस अनुभूति को कितना भी व्यक्त कर दो, फिर भी वह 'अवाङ्.मनसगोचरः' अर्थात् वाणी और मन का विषय नहीं बनती। सद्गुरुदेव श्री विराट गुरुजी ने जिसे इस तरह कहा–

पर्युपासना करते–करते, आज बनूँ मतवाला मैं।
होकर निस्सीहि, आगम सुर का आत्म रमण पी प्याला मैं।।
आज बनूँ मतवाला मैं..... ।।

पर्युपासना के लिए प्रारम्भिक कदम है–मौनपूर्वक अपने इष्ट के पास बैठना। हम अपनी ज़िन्दगी में देखें, हम जिसे प्रेम करते हैं, पसंद करते हैं, उसके पास बैठते हैं। पास बैठकर ही हम अपने इष्ट का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यदि आपको क्रिकेट पसंद है, तो आप इत्मीनान से क्रिकेट मैच देखते रहते हो, और देखते हुए उसमें डूब जाते हो, लीन हो जाते हो। तब आपका तन तो वहाँ होता ही है; आपकी वाणी, आपका मन, आपके विचार, आपकी पूरी चेतना वहीं केन्द्रित होती है–यह जो आपकी दशा है, यही तो 'पर्युपासना' है। हाँ, आप क्रिकेट की पर्युपासना कर रहे हो। आप अपने सम्पूर्ण आत्मभावों के साथ उस खेल को देखते हुए उसमें डूब जाते हो–यह आपके द्वारा क्रिकेट की पर्युपासना की जा रही है। और तब, आश्चर्य घटित होता है, आपके अन्दर भी क्रिकेट की

कला आ जाती है। आप उसे बड़े प्यार से देख रहे हो, उसकी अनुमोदना कर रहे हो, आप भी क्रिकेट खेलना सीख जाते हो।

नियम यही है, कि आप जिसे प्रेमपूर्वक देखते हो, जिसकी अनुशंसा (praise) करते हो, जिसके पास बैठते हो, जिसमें जीते हो; उसे ही प्राप्त कर लेते हो; वैसे ही स्वयं भी हो जाते हो। जो विद्यार्थी पढ़ते हैं, जिनका लक्ष्य C.A., Engineer, Doctor या कोई अन्य डिग्री प्राप्त करना होता है, वे अपनी किताबों के समीप जब बैठते हैं, बड़े प्रेम से, आदर से उन किताबों में खो जाते हैं, डूब जाते हैं, अपनी पढ़ाई की पर्युपासना करते हैं-वे अपने लक्ष्य को प्राप्त करते ही हैं और इसके विपरीत, जिन विद्यार्थियों का मन भटकता है, किताब सामने खुली है लेकिन मन कहीं और चल रहा है, वे पढ़ाई की पर्युपासना नहीं कर पाते। परिणामतः उस किताब के ज्ञान को उपलब्ध नहीं हो पाते।

स्वामी विवेकानन्द जब भी किसी पुस्तक को हाथ में लेते थे, दीन-दुनिया को भूलकर वे उसी में खो जाते थे। मात्र वह पुस्तक ही उनकी ज़िन्दगी हो जाती। मात्र दो-चार घण्टों में वे बड़े-बड़े ग्रन्थ, बड़ी-बड़ी टीकाएँ, मोटी-मोटी पुस्तकें पढ़ लेते थे। अगले दिन यदि कोई उनसे सवाल पूछ लेता, तो वे पुस्तक की पृष्ठ संख्या और संदर्भ के साथ बता देते कि वहाँ पर यह बात लिखी है। इतनी अद्‌भुत प्रज्ञा! क्योंकि उनका अवधान, उनका समर्पण, उनकी एकाग्रता इतनी थी कि उन्होंने पुस्तक को मात्र पढ़ा नहीं, वरन् पर्युपासना की। जो व्यक्ति ज्ञान की, शिक्षक की, गुरू की अथवा ज्ञान के साधन रूप पुस्तक की पर्युपासना करता है, पुस्तक उसे अपना सारा रहस्य ज्ञान करा देती है। पुस्तक उसके आगे अपने सारे भेद खोल देती है। इसी प्रकार, जो शिष्य गुरु की पर्युपासना करता है, गुरु उसे अपना सब कुछ दे देता है। अपनी सारी विधाएँ, सारा ज्ञान, सारी लब्धियाँ गुरु उस शिष्य को दे देता है, जो गुरु के समीप चुपचाप बैठना सीख जाता है। मौनपूर्वक केवल वही व्यक्ति बैठ सकता है, जिसे गुरु के प्रति प्रेम है।

विरोध से भरा हुआ व्यक्ति कभी मौन नहीं बैठ सकता। विरोध का भाव अपने आप में वाचालता है। विरोधी व्यक्ति यदि चुप होकर गुरु के समक्ष बैठ भी जाए, तो भी उसके भीतर वाचालता जारी रहेगी। वह मन ही मन बोल रहा होगा। वह सोचेगा, मैं जुबान से तो नहीं बोल रहा हूँ, गुरु थोड़े ही सुन रहे

होंगे। लेकिन ऐसा नहीं है, गुरु केवल जुबान से बोले हुए को ही नहीं सुनते, गुरु मन से बोले हुए को भी सुन लेते है; क्योंकि गुरु 'गुरु' हैं। उनके सामने शब्द न भी बोलो, तो भी उन्हें पता चलता है। हमारे अंदर तरंग उठती है, और गुरु के अंदर वह तुरन्त प्रतिबिम्बित हो जाती है। इसलिए जो उस गहन मौन को उपलब्ध होता है, गुरु उसे रहस्य ज्ञान देते हैं। गुप्त ज्ञान देते हैं।

बौद्ध ग्रन्थों में एक घटना का ज़िक्र आता है। एक बार गौतम बुद्ध प्रवचन सभा में आए। उनके हाथ में एक फूल है। बहुत लोग प्रवचन सभा में उन्हें सुनने के लिए उपस्थित है। लेकिन गौतम बुद्ध मौन बैठे हैं। अपने हाथ में लिए हुए उस फूल को देख रहे हैं। सारे लोग हैरान हो रहे हैं कि आज क्या बात है, तथागत बुद्ध फूल हाथ में लेकर चुपचाप बैठे हैं। हमें धर्मोपदेश नहीं दे रहे हैं। कुछ लोग सोचने लगे कि हमसे कोई भूल हो गई या आशातना हो गई, इसलिए बुद्ध हमें सम्बोधित नहीं कर रहे हैं। सभी लोग अपने-अपने दिमाग के अनुसार अर्थ लगा रहे हैं। गौतम बुद्ध के कुछ शिष्य भी वहाँ बैठे हैं। उनमें से एक शिष्य सारिपुत्त मात्र गौतम बुद्ध को देख रहा है, उन्हें पी रहा है, पर्युपासना कर रहा है, बुद्ध के अलावा शेष दुनिया उसके लिए समाप्त हो गई है।

तभी, एक क्षण में गुरु के भीतर बहती हुई भावधारा उस सारिपुत्त के केन्द्र पर पहुँच गई। सारिपुत्त अवधानित हुआ, पर्युपासित हुआ, उसकी प्राणधारा उर्ध्वगामी हुई और उसके भीतर एक विस्फोट हुआ, और सारा अन्धकार दूर हो गया। तभी उसके मुख पर हल्की-सी मुस्कान उभरी। वह आभारी हुआ बुद्ध के प्रति, क्योंकि आज गौतम बुद्ध ने मौन उपदेश दिया। रोज़ वे बोलकर उपदेश देते, लेकिन सुनता कोई भी नहीं। लगता था कि बहुत लोग सुन रहे हैं लेकिन हकीकत में कोई उन शब्दों में रहे मौन संगीत को नहीं सुन पाया। आज गौतम बुद्ध ने नया प्रयोग किया, मौन उपदेश दिया और तब उन सैकड़ों शिष्यों में वह एक शिष्य, जो पर्युपासना की स्थिति में था, उसके भीतर गुरु का मौन उपदेश हस्तांतरित हो गया, निनादित हो गया और उसका transformation हो गया। घटना घटित हो गई। तब वह हँसने लगा। मुस्कुराया और गुरु के चरणों में नतमस्तक हो गया। गौतम बुद्ध ने तब वह फूल उसे दे दिया। सारी सभा आश्चर्य से देख रही है। लेकिन हुआ क्या है-यह किसी की समझ में नहीं आ रहा। आन्तरिक जगत में घटने वाली बात बहिर्दृष्टि से समझ आने वाली होती भी नहीं है।

ये वही समझ सकता है जो गुरु की परिक्रमा करता है, भावपूर्वक वन्दन करता है, स्तुति करता है, पर्युपासना करता है। इसीलिए यह तिक्खुत्तो का पाठ यानि तीन परिक्रमा सहित गुरु वन्दन बड़ा गहरा सूत्र है। हम तो इस पाठ को औपचारिक रुप से फटाफट बोल देते हैं। हरेक पद के साथ हमारी भावदशा वैसी नहीं बनती। हम उन शब्दों का दोहरान (repetition) तो करते हैं, लेकिन उन्हें जीते नहीं है। और तब, इतने गहरे रहस्य सूत्र छिछले हाथों में जाकर अपनी मूल्यवत्ता खो देते हैं। अपनी अर्थवत्ता खो देते हैं। क्योंकि शब्दों का अपने आप में कोई महत्व नहीं है। शब्द के साथ जब हमारे भाव जुड़ते हैं तभी वे प्राणवान् होते हैं। अन्यथा, शब्द तो मृत है, पुद्गल है, बेजान हैं। शब्दों के साथ जब व्यक्ति अपनी चेतना को जोड़ता है, तब वे शब्द उसकी चेतना का रूपान्तरण करने वाले बन जाते हैं। क्रान्तिकारी परिवर्तन ले आते हैं।

इसलिए शब्दों का उच्चारण करते हुए उनके साथ हमारी चेतना जुड़नी चाहिए और चेतना तब जुड़ती है जब बोले जा रहे पदों का हमें ज्ञान हो, अर्थबोध हो, हम उन्हें हृदयपूर्वक बोल रहे हो तब भाव जगते हैं। और फिर वे भाव व्यक्ति के भीतर परिवर्तन ले आते हैं। मात्र रटे हुए शब्दों का दोहरान करने से कोई रूपांतरण घटित नहीं हो पाता। इस प्रकार, परिक्रमापूर्वक गुरु को वन्दन करने के बाद अन्त में शिष्य पज्जुवासामि की स्थिति में पहुँच जाता है अर्थात् परिपूर्ण रुप से गुरु की उपासना में अपने आप को समर्पित कर देता है। ज्यों ही उपासक गुरु में अपना पूर्ण समर्पण करता है, वहीं गुरु भी अपना सब कुछ शिष्य में उंडेल देता है। घटना सदा ही दोनों तलों पर एक साथ घटित होती है। जब शिष्य अपना पूरा ही समर्पण कर देता है, तब गुरु भी अपना समर्पण कर देता है। जब शिष्य अपना पूर्ण समर्पण नहीं करता, बीच में ही अपना समर्पण खींच लेता है, तो गुरु भी उससे दूर हो जाता है। दोनों तलों पर साथ यात्रा होती है। यात्रा की शुरुआत भले ही गुरु द्वारा हुई हो, लेकिन यात्रा में चलना और अन्त तक अपने समर्पण को टिकाए रखना शिष्य का पुरुषार्थ होता है।

अतः हर व्यक्ति स्वतंत्र है–अपने भावों के लिए, कि वह समर्पण करे या विरोध करे, राग–द्वेष करे, या मोह–माया करे। हर व्यक्ति स्वाधीन है, अपने भावों के लिए। देश परतंत्र हो सकता है, स्वतंत्र हो सकता है; लेकिन प्रत्येक इंसान अपने भावों के स्तर पर, अपने मन के तल पर सदैव स्वाधीन है–वह चाहे

जिन भावों में रमण करे, और चाहे जिन भावों से विरमण करे; चाहे जैसे भावों के साथ स्वयं को जोड़ ले और चाहे जैसे भावों के साथ स्वयं की शिरकत रोक दे। हम जिनके साथ अपने आप को जोड़ेंगे, वैसी ही उपलब्धि को प्राप्त करेंगे। राग–द्वेष करने वाला राग–द्वेष के माहौल को पाएगा। वैर–विरोध करने वाला वैर–विरोध की परिस्थितियाँ पाएगा, निन्दा–चुगली करने वाला निन्दा–चुगली पाएगा, भक्ति करने वाला भक्ति को पाएगा, भगवान को पाएगा। इस तथ्य को जानकर हम अपने भावों को मोड़ें, राग–द्वेष छोड़ें, और भक्ति के भावों में रमण करें ताकि हम भगवान को पाएँ। स्वयं भगवान हो जाएँ। सदैव आनन्द में रमण करें।

ॐ शान्ति! ॐ शान्ति! ॐ शान्ति!!

कीर्तन पूजन वन्दना

चरमा परमा मुक्त नियागा, विराट वैभव देशना।
कीर्तन पूजन वन्दना।।टेर।।
देय हमारा अरहंत भगवत, और किसी गौतम से क्या
ध्रौव्य उत्पत्ति अन्त ज्ञान जो, शरणा शाश्वत वही लिया
केवल दर्शन सत्य सना, कीर्तन पूजन वन्दना
कीर्तन पूजन वन्दना।।1।।
गुरू हमारा निपट निगण्ठा, ज्यों अन्दर बाहर भी त्यों
पत्थर भी मारे प्रतिउत्तर, देता गुण फल मीठे जी
धन्य गुरू धन ज्ञान घना, करूँ समर्पण ओघमना
कीर्तन पूजन वन्दना।।2।।
शब्द केवली श्रीमुख फूटे, शिक्षा के आयाम अनूठे
उस आगम के गम को पाऊँ, सच्चा आत्म धर्म अपनाऊँ
वितिगच्छा डग क्या भरना, रूढ़ क्रिया फिर क्या करना
कीर्तन पूजन वन्दना।।3।।
नमो जिणाणं जिय भयाणं, चरम जगह शिव पद शरणा
नहीं जन्म मृत्यु भय झंझट, सतत नित्य शान्ति-झरना
अशरण शरण अलक्ष्य राधे बस, और इष्ट क्या चित्त धरना?
कीर्तन पूजन वन्दना।।4।।
देव-धर्म-गुरू-इष्ट स्वास्तिकी, चार सनातन सत्य सदा
जो भी ध्यावे शिव सुख पावे, जो भावे हो मुक्त सदा
विरमण का पुरूषार्थ निराला, और जोर अब क्या करना
कीर्तन पूजन वन्दना।।5।।

---

1. देव- दिव्य प्रकाश, देवता, 2. गौतम- प्रकाश किरण, छुटक प्रकाश
3. आगम- आप्त वाणी, आत्म ज्ञान, 4. गम- पैठ, गमन, रहस्य

न अति निकट, न अति दूर

सत्यम्-शिवम्-सौन्दर्यम् को उपलब्ध हो चुके आप्तपुरूष एवं उनकी आगमवाणी को भाव वंदन। भव्य आत्माओं की भव्यता को प्रणाम।

वन्दना के भावों से भरा व्यक्ति गुरू के गुणों को सतत् अपनी स्मृति में बसाए हुए गुरू के गुणगान करता रहता है। जैसे-जैसे वह गुरू के गुणगान करता है, गुरू वाणी की महिमा गाता है, वैसे-वैसे उसकी आत्मा पर से कर्मों के आवरण क्षीण होते जाते हैं। ज्ञान आवरण क्षीण होते हैं, दर्शन आवरण क्षीण होते हैं, भीतर से मोह की चिकनाई, मोह का दलदल कम होता जाता है। इसलिए, मोक्ष का सबसे सरल रास्ता यदि कोई है तो वह यह कि साधक निर्ग्रंन्थ गुरू का भक्तिपूर्वक गुणगान करता रहे, सत्गुरू का निरन्तर गुणानुवाद करता जाए, सतत् अपनी संज्ञा में गुरू के गुणों को बसाता चला जाए। ऐसा करते-करते उसके भीतर भी वे गुण प्रकट हो जाएँगे। फिर वह चाहे गुरू के सम्मुख हो अथवा दूर हो, उसकी नज़रों में गुरू सदैव मौजूद रहते हैं। भक्ति और प्रेम में क्षेत्र और समय की दूरियाँ नहीं रहती। गुरू के गुण सतत् सुमिरण में रहते हैं। ऐसे व्यक्ति के भीतर रात नींद में भी गुरू का शुभ लेश्यावलय और उसके प्रति भक्ति सतत् चलती है। ऐसा व्यक्ति, जो अपने आप को गुरूमय बना लेता है, वही एक दिन गुरूता को उपलब्ध होता है, गुरूत्व को उपलब्ध होता है। वही एक दिन अपने भीतर की सारी कमज़ोरियों से, ग्रन्थियों से मुक्त हो पाता है। कहा भी है किसी ने कि-

लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर।

जो विनम्र होकर प्रभु भक्ति करते हैं, उन्हें गुरूपद मिलता है। प्रभु की कृपा से गुरू की शरण, उनका सान्निध्य मिलता है, किन्तु जो अहं में रहते हैं, वे प्रभु से दूर रहते हैं।

इस संसार में कोई चीज़ नष्ट नहीं होती है, केवल रूपान्तरित होती है। रूप परिवर्तित करती है। किसी भी वस्तु को या वृत्ति को हम समूल नष्ट नहीं कर सकते। केवल उसका रूप, उसका आकार बदल सकते हैं। हमारे भीतर

राग-द्वेष की वृत्तियाँ है, काम, क्रोध, मान, माया, लालच, सब कुछ है-यदि हम इन्हें समाप्त करना चाहें और सोचें कि इनसे लड़ कर इन्हें नष्ट कर देंगे, दबा देंगे, मार देंगे, हरा देंगे; तो यह प्रयास निष्फल है। ऐसा कभी संभव ही नहीं है। यह अर्थ समर्थ नहीं है। लेकिन हम सब लोग गलत रास्ता अपनाते हैं।

हम लोग क्रोध को खत्म करने के लिए क्रोध से लड़ना शुरू कर देते हैं, काम समाप्त करने के लिए काम से लड़ने लगते हैं, मोह समाप्त करने के लिए मोह से लड़ते हैं और लोभ को समाप्त करने के लिए लोभ से लड़ना प्रारंभ कर देते हैं; और जैसे-जैसे हम इनसे लड़ते हैं वैसे-वैसे ये दुर्गुण, ये विकार और अधिक बढ़ते जाते हैं। व्यक्ति अपनी ग़लत आदतें, ग़लत सोच, ग़लत वृत्तियों को हटाने के लिए इनसे लड़ता है, संघर्ष करता है क्योंकि उसे इन्हें हटाने का सही तरीका समझ नहीं आता। तब वह जितना ज़्यादा इनसे संघर्ष करता है, ये उतनी ही ज़्यादा बढ़ती चली जाती है।

आप्त पुरूष फरमाते हैं कि आपने ग़लत रास्ता ले लिया है। आप उन पर ही ज़ोर दे रहे हो, ध्यान दे रहे हो, उसे ही importance दे रहे हो जिन्हें आप हटाना चाह रहे हो। ये गलत वृत्तियाँ आत्मा का विभाव है। जीव का अपना होनापन (स्वभाव) नहीं है। प्रत्येक आत्मा की यह योग्यता है, क्षमता है, कि वह 'भाव' करता है। 'भाव' आत्मा का उपादान है। अब वह 'भाव' जीव की संसारी दशा में दो प्रकार का हो जाता है- स्वभाव और विभाव। स्वभाव विभाव हो सकता है, लेकिन आत्मा भावरहित हो जाए-ऐसा कभी भी संभव नहीं है। जीव हो, और भाव न हो; आत्मा हो और भाव न हो; मन हो और विचार न हो-यह possible नहीं है। मन है, तो विचार होंगे ही। मन का होनापन ही विचारों में है। आत्मा है, तो भाव होंगे ही। फिर इनसे लड़ेंगे कैसे? जिनसे लड़ रहे हैं, वे ही तो वे स्वयं है। अब हमारा एक हाथ दूसरे हाथ से लड़े, तो क्या उपलब्धि होगी? दायाँ हाथ बोले, मैं ही श्रेष्ठ हूँ, इंसान के लिए सारे कार्य मैं ही करता हूँ। मैं न होऊँ तो इंसान भूखों मरे, पढ़-लिख भी न पाए, कुछ भी न कर सके। बाएँ हाथ का तो कोई विशेष उपयोग ही नहीं, इसलिए बाएँ हाथ को मैं हटाऊँगा। अब वह दायाँ हाथ बाएँ हाथ से लड़ रहा है, उसे गालियाँ दे रहा है, उसे हटाने की कोशिश कर रहा है- परिणाम क्या होगा? result क्या होगा? दोनों ही ताकतें आपस में, अपने ही अपनों से लड़ पड़ेगीं। दायाँ हाथ बाएँ हाथ से लड़ेगा यानि अपनी ताकत अपनों से लड़ेगी, तो क्या होगा ? कुछ नहीं

होगा–आप ही थकोगे, हारोगे, लहूलुहान हो जाओगे और अन्ततः पछताओगे। कहोगे, मेरी शक्तियाँ चूक गई। मैं तो ज़िन्दगी से हार गया।

बहुत लोग हमें मिलते हैं, जो कहते हैं, 'हम ज़िन्दगी से हार गए।' हार गए? इसका मतलब क्या? इसका मतलब है जीवन जीने का ग़लत तरीका अपनाया था, गलत तरीके से जिए थे। जीने का सही तरीका नहीं जाना इसलिए हार गए, अन्यथा हारने का कोई कारण नहीं है। हमारे भीतर की वृत्तियाँ लड़ने से कभी समाप्त नहीं होगी; मरेगी नहीं कभी, हारेगी नहीं ये कभी। इन वृत्तियों को हमें रूपान्तरित करना होगा। जब हमें लगे कि हमारे भीतर बहुत काम है, बहुत क्रोध है, बहुत घमण्ड है, बहुत मोह है, बहुत माया है–तो इन विचारों पर ध्यान ही मत दो। उनके बारे में सोचो ही मत। इसकी बजाय यह सोचो–मेरे गुरू कितने ज्ञानी हैं, कितने गुणवान हैं, उनका व्यक्तित्व कितना अनुपम है, महावीर की वाणी कितनी अनूठी है....। इंसान का मस्तिष्क कुछ तो सोचेगा ही, यदि आप उसे सही दिशा दे दो, सही रास्ता पकड़ा दो, गुणानुवाद करना शुरू कर दो, गुणचिन्तन करने लगो, भक्ति अथवा स्तुति करना प्रारंभ कर दो, तो हमारी भाव धारा बदल जाएगी। फिर हमारे भीतर काम–क्रोध–मान–माया–लोभ के लिए स्थान ही नहीं मिलेगा। इसलिए, ''गुरू वंदना'' महत्वपूर्ण है। अगर हमारे भीतर सतत् गुरू की वन्दना चलती रहे, गुण–कीर्तन होता रहे, तो विभावों को स्थान ही नहीं मिलेगा। विभाव दूर होते चले जाएँगे। अपना रूप बदल कर स्व भावमय हो जाएँगे।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस देव से एक साधक ने कहा, 'गुरूदेव! वर्षों से ध्यान कर रहा हूँ लेकिन साधना अभी सफल नहीं हो पा रही है। अभी तक मन में आवेग उठते हैं, भय पकड़ता है, लालच जगता है.... ये निम्न वृत्तियाँ अपना फन फैलाकर कभी भी उठ खड़ी होती है–अनन्त रूप हैं इसके। कैसे हटाऊँ इन्हें? कैसे समाप्त करूँ इन्हें? थक गया हूँ।' परमहंस देव बोले–'साधक, तुम ग़लत कर रहे हो। इन वृत्तियों से लड़ो मत। इन वृत्तियों को जानो, समझो और रूपान्तरित करो। भक्ति में मन लगाओ। जिस दिन मन भक्ति में रम गया, उस दिन इन विकारों को आने के लिए जगह नहीं मिलेगी। अभी मन भक्ति में नहीं लगा है, तभी ये विकार तुम्हारे मन में स्थान बना पा रहे हैं।' गुरू नानक देव जी ने तथा अन्य कई महापुरूषों ने भी यही कहा, 'सिमरन करो।'

सुमिरण में मन लगाओ। गुरू के गुण हमारी संज्ञा में गहराई से बस जाएँ। जीवन के प्रति आस्था हमारे प्राणों में रम जाए। तब इन क्षुद्र वृत्तियों का हमारे भीतर स्थान ही नहीं बचेगा। जैसा कि रहीमदास जी ने कहा है-

प्रीतम छवि नैनन बसी, पर छवि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आप फिर जाय।।

जब साधक गुरू को वन्दन करने जाता है, गुरू से ज्ञान प्राप्त करने के लिए जाता है, गुरू के समीप उपासना करने जाता है, तो वह प्रदक्षिणापूर्वक गुरू वन्दन करके स्तुति करते हुए 'पज्जुवासामि' कहने के साथ ही शान्त होकर उनके निकट बैठ जाता है। गुरू की परिक्रमा और पर्युपासना का विधान करते हुए शास्त्रकार कहते हैं-

णाइसन्ने णाइदूरओ

अर्थात् वह गुरू के न अत्यंत निकट जाए और न अत्यंत दूर रहे। गुरू की अथवा ज्ञान की उपासना करनी हो, तो उसके बहुत ज्यादा नज़दीक न जाओ। जिस तरह आग के बहुत ज्यादा नज़दीक चले जाओ, तो आग आपको जला देगी। और, दूर रहो तो उसका कोई लाभ नहीं-आपको न उष्मा मिलेगी, न प्रकाश मिलेगा, न ही भोजन पकेगा, न ही ऊर्जा मिलेगी। आग के साथ जैसा व्यवहार करते हो, ठीक वैसा व्यवहार करो। दशवैकालिक सूत्र कहता है-आचार्य (गुरू) यज्ञ की पवित्र अग्नि के समान है। यह पवित्र अग्नि किंचित् दूर से ही उपासना करने योग्य है।

हम लोग ऐसी ही भूलें करते हैं। हम किसी भी साधु-संत या गुरू के बहुत अधिक निकट चले जाते हैं अथवा उनसे बहुत दूरी ही बनाए रखते हैं। जब लोग सन्तों के अत्यधिक निकट जाते हैं, तो थोड़े दिनों के बाद उनकी आस्था डाँवाडोल होनी शुरू हो जाती है, चित्त शान्त होने की बजाय भ्रमित होने लग जाता है, हज़ारों शंकाएँ और भ्रमणाएँ पैदा होने लग जाती है क्योंकि सारे साधु अभी गुरू नहीं हुए हैं। साधु, साधना कर रहा है कषायों की, उपशांति की किन्तु गुरू वह है जो ग्रन्थिमुक्त हो चुका है।

सूत्रकार बड़ी गहरी रहस्यमयी बात बताते हैं कि गुरू के भी अत्यधिक

निकट मत जाओ। अन्यथा तुम उनसे भी सांसारिक नाते जोड़ लोगे। उस पर भी अपनी अपेक्षाएँ लादने लग जाओगे और फिर मानसिक भ्रमणा में भटकते रह सकते हो। इसलिए इतनी दूरी रखो, कि दोनों के हाथ खोलने पर वे परस्पर मिले नहीं। आपके और गुरू के-दोनों के हाथों के फैलाव जितनी दूरी रखो। वहाँ तक गुरू का लेश्या चक्र है, आभावलय है, अवग्रह क्षेत्र है। उनके लेश्या चक्र की परिधि पर उपस्थित शिष्य को गुरू का शुभ्र आभावलय रूपान्तरित कर देता है। लेकिन जो उस क्षेत्र के भीतर गुरू के अत्यधिक निकट चला जाता है, वह गुरू की पवित्र आभा से वंचित ही रहता है। गुरू के सम्मुख ही नहीं जाने वाला गुरू से अत्यधिक दूर रहने वाला इंसान तो ज्ञान से सदा वंचित है ही।

सूत्रकार बताते हैं, शिष्य को गुरू से साढ़े तीन हाथ की दूरी पर रहकर प्रदक्षिणा करनी चाहिए, वन्दन-नमन करना चाहिए। आजकल भक्त लोग यह विवेक नहीं रखते। लोग सोचते हैं, साध्वी भगवंत है, तो बहिनें तो इनके चरण स्पर्श कर ही सकती है और भाई लोग भी साधु भगवंत के एकदम निकट चले जाते हैं। सोचते हैं, इनके पास आने का सौभाग्य मिल गया तो हमारे तो भाग्य खुल गए। बस, पकड़ लो अब तो इनके चरण, इनके हाथ अपने मस्तक पर आशीर्वाद रूप में रखवा दो, पीठ पर थपकी लगवा दो....।

लेकिन ऐसा करते हुए वे नहीं जानते कि इससे उनका कुछ भला नहीं हो रहा है, बल्कि नुकसान ही हो रहा है। गुरू की उपासना करनी है, तो एक निश्चित दूरी, मर्यादित दूरी बनाए रखनी आवश्यक है। जीवन के सभी सम्बन्धों पर यह सूत्र लागू होता है। चाहे पति-पत्नी का संबंध हो, भाई-भाई का हो, या दोस्तों का हो-हर एक संबंध में यह नियम याद रहे- न अति निकट, न अति दूर।

इंसान एक बार जिसे चाहने लग जाता है, उससे बार-बार मिलना चाहता है, घुलना चाहता है, और उसी से चिपक जाता है। बस, यहीं उससे गलती हो जाती है। फिर जब कभी उसकी अपेक्षाएँ टूटती है, सपने टूटते हैं तब लगता है धोखा मिला। फिर वह उससे उतना ही दूर हटता है। तब आपस में एक-दूसरे का मुँह देखना भी पसंद नहीं करते। तब वह कहता है, दुनिया वाले बेकार हैं, सब स्वार्थी हैं, देख लिया सबको मैंने, कोई किसी का नहीं होता। लोग ऐसे होते हैं, वैसे होते हैं.....न जाने कितनी ही शिकायतों से भर जाता है वह

और तब उसका यह नकारात्मक नज़रिया और ज्यादा नकारात्मकता को आकर्षित करता है; और उसका पूरा जीवन नर्क बन जाता है। इसलिए, नियम सदा याद रखो– 'न अति निकट, न अति दूर'। चाहे कोई भी व्यक्ति हो और कैसा भी संबंध हो। भौतिक स्पर्श की, दैहिक लगाव की तीव्रता व्यक्ति को सम्यक् बोध से वंचित कर देती है।

'गुरू' में बड़ा प्रबल आकर्षण होता है। 'गुरू' खींचता है शिष्य को, ठीक वैसे ही जैसे पृथ्वी खींचती है पदार्थों को अपनी ओर। इस अद्भुत खिंचाव के बावजूद एक निश्चित अवस्था है, नियत स्थिति है, जहाँ से वह शिष्य को रूपान्तरित कर सकता है। मर्यादित स्थिति हो तो रूपान्तरण घटित होता है। मर्यादा का अतिक्रमण हो जाए, तो रूपान्तरण नहीं हो पाता।

अति दूर अवस्थिति हो, तब भी रूपान्तरण नहीं होता। कई लोग गुरू से बहुत दूरी बनाए रखते हैं, क्योंकि पहले वे कभी बहुत नज़दीक रह चुके, और पिछले कुछ विचित्र अनुभवों के कारण अब वे गुरू के पास ही नहीं होना चाहते। पहले अत्यधिक निकट रहे, अब उतनी ही दूरी बना ली। यह असम्यक् तरीका है। ऐसे लोग सदा ही चूक जाते हैं, बार–बार चूकते चले जाते हैं। वे कहते हैं, 'गुरू महाराज के पास जाकर भी क्या करना है, वही राग–द्वेष है, वही कथाएँ हैं।' विराट गुरूजी ऐसे लोगों से कहा करते कि, 'बिना सुने, मत नकारो।' कोई भी साधु भगवंत के पास एक बार ज़रूर जाओ। एक बार उनका प्रवचन ज़रूर सुनो। एक बार उनकी पर्युपासना ज़रूर करो। समझ न आए तो दोबारा भले मत जाओ, लेकिन बिना सुने, बिना जाने, बिना देखे नकारना हमारा विनय धर्म नहीं है। इस तरह से तो तुम ज्ञान से, ज्ञान के स्रोत से, निर्ग्रन्थ गुरू से, यहाँ तक की तीर्थंकर परमात्मा से भी चूक जाओगे। सबको नकारने वाला चित्त कभी कुछ नहीं पा सकेगा, क्योंकि उसने अपने मन में पहले से ही यह मान्यता बना रखी है कि यहाँ कुछ नहीं है।

ठीक इससे विपरीत, कई लोग अपने मन में पहले से ही धारणा रखकर चलते हैं कि ये तो बहुत बढ़िया है। ये हमारे गुरू हैं, ये हमारे बाप–दादा के गुरू हैं, इसलिए ये ज्ञानी है। इनका बहुत नाम है, इनके पास तो बहुत लोग आते हैं, इसलिए ये तो बिल्कुल सही है, महापुरूष है। ऐसा मानकर वे उनके पास जाते हैं।

इस तरह, हर व्यक्ति अपनी आँखों पर मान्यताओं का चश्मा चढ़ा कर बैठा है-कोई लाल रंग का, कोई नीले रंग का, कोई पीला, तो कोई हरा। इसीलिए उसे सत्य का दर्शन नहीं हो पाता। सत्य की उपासना करने वाले व्यक्ति को अपनी आँखों से हर प्रकार के चश्मे-लगाव के अथवा इन्कार के-उतार कर रखने ही होंगे। निष्पक्ष हुए बिना सत्य को जानना संभव नहीं है। लोग या तो लगावपरक होकर अपनी मान्यताओं से चिपकते हैं, या विरोधग्रस्त होकर दूर भागते हैं, घृणा करते हैं।

जो व्यक्ति जिस तरह की मान्यता बना कर बैठा है यानि जिस रंग का चश्मा चढ़ा कर बैठा है, वह हर दृश्य को अपने चश्मे (मान्यता) के अनुसार ही देखेगा। अब यह बड़ा कठिन मामला है, अगर निष्पक्ष नहीं हुए, सदा ही कोई एक पक्ष, मत, धारणा पर कायम रहे, तो सत्य को नहीं जान सकोगे। क्योंकि धारणाग्रस्त चित्त वही देखता है, जिसे वह देखना चाहता है। निष्पक्ष हुए बिना सत्य को जानना संभव ही नहीं है। इसलिए, किसी भी एक पक्ष के प्रति आग्रही हुए बिना हमें इसी समाज में जीने की, संस्था में भाग लेने की आवश्यकता है। क्योंकि यही वह निमित्त है जहाँ से हमें ज्ञान मिलेगा। अतः सभी के पास जाएँ, ज़रूर जाएँ, लेकिन चिपके नहीं-इस बात का ख्याल रहे। राजस्थान में एक कहावत प्रचलित है-'गेली सासरे जावे नहीं, जावे तो पाछी आवे नहीं।' अर्थात् बावले लोग या तो कहीं जाते नहीं, बहुत दूरी बनाए रखते हैं, घृणा करते हैं, विरोध करते है; और या जाते हैं तो फिर वापिस आते नहीं। इतना ज्यादा चिपक जाते हैं वहाँ, कि अन्तःतोगत्वा स्वयं का ही नुकसान कर बैठते हैं।

शास्त्रकार कहते हैं, गुरू की यदि परिक्रमा करनी है तो साढ़े तीन हाथ की दूरी से परिक्रमा करो। यह दूरी भौतिक शरीर की दूरी हो, भावों की नहीं। गुरू की उपासना करनी है तो साढ़े तीन हाथ की दूरी पर बैठ कर पर्युपासना करो। इस दूरी को मत लांघना। इस मर्यादा को त्याग कर गुरू के अत्यधिक निकट मत चले जाना। लेकिन लोग कहते हैं, 'महाराज जी, निकट न जाएँ तो मन को संतुष्टि नहीं मिलती। जब तक साधु-सन्तों के पैर न छुएँ तब तक satisfaction नहीं होता।'

सूत्रकार कहते हैं, साधु-साध्वी भगवंतों की, गुरू महाराज की देह का स्पर्श नहीं किया जाता है। ऐसा न समझो, कि ये तो साधु महाराज है,

public property है, जब चाहेंगे तब इनके पैर पकड़ लेंगे, अपना सिर रगड़ देंगे और अपना कल्याण कर लेंगे। आशीर्वाद पा लेंगे, फिरवा लेंगे उनसे सिर पर हाथ। हमने भी अनुभव किया है, लोग आते हैं और गुरूदेवों के पैर ढूँढते हैं। कहते हैं, 'महाराज जी, पैर कहाँ दबाकर बैठे हो, ज़रा बाहर निकालो, पैर छूने हैं।' अब सर्दी का मौसम है, महाराज जी आसन में संतुलित अवस्था में स्थिर होकर बैठे हैं और लोग अपने ठण्डे हाथों से गुरूदेव के चरणों का स्पर्श करते हैं। गुरूदेव की देह का ताप सामान्य रूप से उष्ण है और आगंतुक दर्शनार्थी का स्पर्श ठण्डा है, ऐसे में अविवेकवश उनके द्वारा गुरूदेव की आशातना हो जाती है। वह भी ऐसा समझते हुए कि हम गुरूदेव की भक्ति कर रहे हैं, पूजन-वन्दन-नमन कर रहे हैं। कई बहनें अपने बढ़े हुए नाखूनों से गुरूवर्या के चरणों को छू रही है, तो कई बहनें अपने सिन्दूर लगे मस्तक को गुरूवर्या के पैरों में रगड़ रही है......। इस तरह अनजाने में अज्ञान और अविवेक के कारण भूलें हो जाती है।

सांसारिक जगत में अपने से बड़े-बुजुर्ग लोगों के पैर छूना अच्छी बात है, व्यहार है; लेकिन गुरू भगवंतों के इस तरह पैर छूकर वंदना नहीं की जाती। गुरू भगवंत को वन्दन करने की विधि भिन्न है। अगर उनकी सन्निधि में बैठना हो, पर्युपासना करनी हो, तो परिक्रमा करके पर्युपासना करो और यदि प्रदक्षिणा-परिक्रमा नहीं करनी हो, तो पंचांग नमा कर वंदना की जा सकती है। पंचांग यानि दोनों हाथ, दोनों पैर और मस्तक। और यदि पंचांग नमन करने का भी अवसर न हो तो केवल दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर 'मत्थएण वंदामि' करो। इसका अर्थ होता है कि मेरा मस्तिष्क (माथा, head) आपको वंदन-नमन करता है। यह ठीक ऐसा ही है, जैसे हम अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति के प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिए salute (सलाम) करते हैं। इस प्रकार हम संक्षेप में पुनः समझें कि गुरू वंदन रूप कृतिकर्म तीन प्रकार से होता है। प्रथम है-आदक्षिण-प्रदक्षिणा, जिसमें समवशरण, उपाश्रय आदि में प्रवेश करते ही गुरू के दाहिने ओर से एवं गुरू को स्वयं से दाहिने रखते हुए शिष्य त्रिवार परिक्रमा करता है। यह परिक्रमा दिन में प्रायः पर्युपासना से पूर्व एक बार ही की जाती है।

दूसरी है आवर्त्तन-प्रवर्त्तन रूप वंदना, जब पर्युपासना हेतु उपस्थित सावग को परिक्रमा का अवसर न हो तो वह तीन बार आवर्तन-प्रवर्तन ही

करता है। आवर्तन अर्थात् अपनी कार्यशक्ति के प्रतीक दोनों हाथ जोड़कर गुरू चरणों तक ले जाकर हाथ खोलकर दोनों चरणों को स्पर्श करना। स्पर्श करने का अवसर न हो तो दूर से ही अवग्रह क्षेत्र को स्पर्श करना अथवा भाव करना। प्रवर्त्तन अर्थात् फिर उन हाथों को, जिन हाथों ने गुरू चरणों से चरण रज स्पर्शी है, चरण रज सहित अपने मस्तक पर लगाना। यह कृतिकर्म घुटनों के बल बैठकर अथवा गर्हासन में बैठकर किया जाता है। इस तरह गुरू के समीप रहता हुआ, सामायिक में अथवा गर्हा आवश्यक में गुरू की चरण रज को शीश पर धारण करना आवर्तन-प्रवर्तन करना कहलाता है। प्रतिक्रमण में खमासमणा देते समय 3x4=12 आवर्तन किए जाते हैं, जो समण परंपरा में आज तक अव्याबाध चल रहे हैं। हाँ, आजकल कुछ लोग इस विधि को बदलकर अपने सिर पर हाथ घुमाने की प्रथा में तब्दील करना चाहते हैं, जिसका कोई औचित्य नहीं है। शिष्य तो गुरू को समर्पित होता है। अपने डेढ़ होशियार मस्तिष्क को समर्पित करने की कहाँ आवश्यकता है। ऐसी स्थिति को तो 'अंधा बाँटे रेवड़ी, फिर-फिर खुद को देय' ही समझा जाएगा ना। इस डेढ़ होशियार दिमाग को 'निस्सीहि' करने के लिए ही तो वंदना की जाती है। महज़ औपचारिक हठाग्रह मूलक किया गया कोई भी कार्य मुक्ति मार्ग में समर्थ अर्थ नहीं रखता।

तीसरी तरह की वंदना हाथ जोड़कर झुककर अभिवादन करना है। जब कभी साधु के दर्शन हो, मार्ग आदि में भेंटना हो जाए, तब नमोस्तुते, नमोऽत्थुणं, मत्थएण वंदामि, हियएण वंदामि, भावेण वंदामि आदि किसी भी पद द्वारा साधु का अभिवादन किया जाता है।

आत्मज्ञानी श्री विराट गुरूजी का कहना था कि हर प्रतिरूपित (Uniformed) साधु को वेश वंदन करने का दायित्व तो हर धर्म प्रेमी का है ही, भले आप उनको जब तक अंतर् स्वभाव से गुरू योग्य न जान पाएँ, प्रदक्षिणा देकर तिक्खुत्तो वंदना ना करें मगर 'नमस्ते', 'णमोत्थुणं' या 'मत्थएण वंदामि' भी नहीं कहना तो शिष्टाचार का उल्लंघन ही होगा। आत्मज्ञानी श्री विराट गुरूजी सभी धर्म पंथों के लिए प्रार्थना करते हुए कहा करते कि 'वह दिन धन्य होगा, जब सारे संघ स्वयं की समाचारी में रहते हुए भी परस्पर प्रेम फैलाएँगे। अलग-अलग समाचारियों की विभिन्न शैलियाँ साधुत्व के मापदण्ड का कारण नहीं बनाई जाएगी। जैन धर्मावलंबियों के सारे पर्व मतभेद व मनभेद रहित एकत्व भाव से मनाए जाएँगे।'

यदि किसी गुरू-दर पर जाकर आपको ऐसा लगे कि यहाँ सिर्फ मेरा सिर ही नहीं, दिल भी झुकता है......इनकी गुरूवाणी सुनकर मेरे हृदय में स्पन्दन होता है, संगीत-सा बजता है.....बस दिल करता है झुक जाऊँ, बिछ जाऊँ इन चरणों में-तो फिर यहाँ मस्तक को जाने दो, मत्था झुकाना तो पहली कक्षा थी, अब इससे आगे बढ़ो....हृदय से वन्दन करो। तब आपके मुख से बोल फूटेंगें-'हियएण वंदामि'....यानि हृदय से, दिल से वंदन हो। ये शब्द उस ज़माने की आम भाषा थी। आज हमारी ये भाषा नहीं रही इसलिए हमें अज़ीब लग रहा है। जैसे, आज हम लोगों की भाषा में good morning, good evening बिल्कुल general बात है-उस ज़माने में अगर ये शब्द बोलते तो उन्हें ये किसी शास्त्र के शब्द लगते। उन्हें लगता न जाने कौनसी भाषा बोल रहे हैं ये-ऐसे ही, आज हमें 'मत्थएण वंदामि' या 'हियएण वंदामि' कुछ अलग-से शब्द लग रहे हैं लेकिन उस ज़माने में लोगों की यह आम भाषा थी....जहाँ दिल से समर्पण जगा तो 'हियएण वंदामि।'

अगर कभी लगे कि यहाँ न सिर्फ मेरा दिल और दिमाग, बल्कि मेरी चेतना भी प्रणाम कर रही है.....। पूरे भावों से मेरा प्रणाम है.....उस दिन आपके मुँह से निकलेगा 'भावेण वंदामि'। मैं भावों से आपको वंदन-नमन करता हूँ। अपनी सम्पूर्ण भावनाओं से आपको समर्पण करता हूँ। तो, 'मत्थएण वंदामि' वंदना का प्रारम्भिक स्तर है, निचली कक्षा है; 'हियएण वंदामि' मध्य अवस्था है, द्वितीय कक्षा है; और 'भावेण वंदामि' उत्कृष्ट अवस्था है। कभी-कभी कोई भव्य आत्मा साधक सीधे ही छलांग लगा लेते हैं, भगवान की/गुरू की वाणी सुनते ही उनके भाव परिवर्तित हो जाते हैं। वे भगवान के समक्ष कहते हैं-'भावेण वंदामि', संपूर्ण आत्मभावों से आपको वंदन करता हूँ। मेरा दिल, मेरा दिमाग, मेरी चेतना, मेरा पूरा जीवन आपको समर्पित है; अब आप ही मुझमें वास करो.....। हाँ.....ऐसे भी लोग होते हैं, जो एक ही बार में प्रथम अभिगम में ही पूरी भावना से झुक जाते हैं, समर्पित हो जाते हैं-ऐसे में उनकी वंदना, उनका नमना भिन्न तरह का होता है। उनका झुकना विशिष्ट होता है।

हकीकत यह है कि वंदना की कोई विधि हो ही नहीं सकती है, क्योंकि वंदना तो अपने भावों की अभिव्यक्ति है, गुरू की स्तुति है। व्यक्ति के अन्दर जैसा भक्ति भाव होगा गुरू के प्रति, वो उसी तरह से गुरू को नमेगा। और यदि

भक्ति, श्रद्धा, समर्पण के कोई भाव नहीं आते हैं तो कैसे नमेगा ? ये कोई रिवाज़ तो है नहीं.....। जैसे आजकल लोगों ने रिवाज़ बना लिया है-कि friendship day आया है तो अपने friends को कुछ न कुछ गिफ्ट तो देना ही है। Valentine Day आया है तो अपने प्रेमी या प्रियतमा को गुलाब का फूल तो देना ही है। अब, गुलाब का फूल न दो, जूही का फूल दे दो, या तुम्हारी मर्ज़ी न हो कोई भी फूल देने की तो..... लेकिन लोग कहते हैं कि नहीं ये तो ज़रूरी है, रिवाज़ है कि जिसे भी प्यार होगा, वो लाल गुलाब का फूल ही देगा। इसी तरह जिसे भी गुरू के प्रति झुकने का भाव आएगा तो वह तिक्खुत्तो के पाठ से ही वंदन-नमन करेगा, गुरू को झुकेगा ही। नहीं, इसकी कोई निश्चित विधि नहीं है....। जैसे भीतर से भाव आएँगे, वैसी ही भावों की अभिव्यक्ति होगी। अब उसे चाहे जैसे शब्दों में व्यक्त करो। महत्वपूर्ण बात यह है कि आपके भीतर के भावों से वन्दना हो, फिर शब्द चाहे जो भी हो। बिना भावों के महज़ शब्दों का औपचारिक उच्चारण मात्र न हो। लेकिन जब हम ऐसी चीज़ों को भी रिवाज़ बना लेते हैं, रूढ़ि बना लेते हैं-उस दिन अन्दर के सारे भक्ति के भाव महज़ औपचारिकता में तब्दील होकर रह जाते हैं और वे शब्द मात्र परिपाटी बनकर रह जाते हैं। फिर उन शब्दों में कोई अर्थवत्ता, कोई मूल्यवत्ता नहीं बचती।

अब प्रश्न उठता है, गुरू के चरण स्पर्श करना या नहीं करना ? अथवा कब करना ? शास्त्रों में महज़ एक स्थान पर गुरू के चरण स्पर्श करने का उल्लेख मिलता है-जब उपासक अपने गुरू के समक्ष प्रतिक्रमण कर लेने के बाद गर्हा करने जाता है। गर्हा का मतलब है-गुरू के सामने अपने दोषों को खोलकर कहना, confess करना। तो जब शिष्य अपने confession करने के भाव से गुरू के पास जाता है और उन्हें वन्दन करता है, उस समय गुरूवन्दना करते हुए वह कहता है ''इच्छामि खमासमणो वन्दिउं जावणिज्जाए निस्सीहियाए''-यह पाठ गुरूवन्दना का पाठ है, जिसे आप लोग आवश्यक सूत्र के तीसरे गुरूवन्दन आवश्यक में पढ़ते हो। इस पाठ में शिष्य अपने दोषों की गर्हा करने के लिए गुरूवन्दना करते हुए गुरू के अवग्रह क्षेत्र में प्रवेश करने की आज्ञा लेते हुए कहता है-'अणुजाणह मे मिउग्गहं' अर्थात् 'हे गुरूदेव! आज्ञा दो, मैं आपके अवग्रह क्षेत्र में प्रवेश करना चाहता हूँ.....।' अवग्रह क्षेत्र का मतलब है गुरू का विद्युत-चुम्बकीय क्षेत्र electro-magnetic field। गुरूदेव का जो आभावलय है, aura है, magnetic field है, वह charged है,

powerful है.... और मैं (शिष्य) आपके आभामण्डल में, आपके (गुरू के) प्रभाव क्षेत्र में प्रवेश करना चाहता हूँ। अतः आपसे अनुमति माँगता हूँ..... ।

जब भी गुरू की देहस्थिति से साढ़े तीन हाथ की दूरी के भीतर आना हो, तो गुरू से अनुज्ञा ली जाती है–अणुजाणह मे मिउग्गहं। फिर गुरू से अनुमति प्राप्त हो जाने पर शिष्य कहता है–अहो कायं काय संफासं...। अर्थात् हे गुरूदेव! मैं अपनी काया से आपकी काया की स्पर्शना करता हूँ–और तब वह (शिष्य) अपने दोनों हाथ गुरू के चरणों में लगाता है, गुरू के चरणों को स्पर्श करता है, और फिर उन्हें अपने मस्तक पे धारण करता है–अहो कायं काय..... । आगे कहता है–संफासं खमणिज्जो भे किलामो अप्पकिलंताणं..... । यानि अपनी काया से हे गुरूदेव मैंने आपकी काया को जो स्पर्श किया है, उससे आपको ज़रा भी किलामना (कष्ट) उपजी हो तो आप मुझे क्षमा प्रदान करें, क्योंकि आप क्षमासमण हो....। आप हम सबको सहन करने वाले हो, क्षमासमण हो–और मैं अपनी अशुभ लेश्या के साथ आपके शुभ लेश्यावलय (aura) में प्रविष्ट हुआ हूँ, तो मेरी वजह से आपकी शुभ लेश्या में ज़रा भी आशातना हुई हो तो आप मुझे क्षमा करो।

कितना गज़ब का विनय है! कैसी विनम्रता! कितनी लघुता! कैसी पवित्रता! कि मेरी अशुभ लेश्या की वजह से यदि आपकी उच्च लेश्या को, शुभ्र आभावलय को ज़रा भी किलामना हुई हो....। ग़र किसी फूल के समीप भी दुर्भावनाग्रस्त दुर्गंधयुक्त चित्त पहुँच जाए, तो उसका भी प्रभाव पड़ता है उस पर....तकलीफ होती है उसे....। इसी तरह फूल सरीखी उच्च लेश्या वाली गुरू की चेतना को शिष्य की अपवित्र हल्की लेश्या की वजह से किंचित् भी कष्ट पहुँचा हो तो शिष्य भक्तिपूर्वक क्षमा माँगता है–'खमणिज्जो! भे किलामो अप्पकिलंताणं....।' फिर आगे उनसे सुखसाता पूछता है– 'बहुसुभेणं भे दिवसो वइक्कंतो'–हे गुरूदेव! आपका दिवस सुख-सातापूर्वक व्यतीत हुआ....। 'जत्ता भे जवणिज्जं च भे'–आपकी संयम यात्रा निराबाध है....? आपके शरीर में कोई कष्ट तो नहीं है ?

इतना होने के पश्चात् शिष्य अपने दोषों की गर्हा (confess) करता है कि मैंने आज दिनभर में अथवा विगत काल में जो कुछ भी अतिक्रमण किए–

खामेमि खमासमणो! देवसियं वइक्कम्मं आवस्सियाए पडिक्कमामि

खमासमणाणं! देवसियाए आसायणाए तित्तिसन्नयराए जं किंचि मिच्छाए मणदुक्कड़ाए वयदुक्कड़ाए कायदुक्कड़ाए कोहाए माणाए मायाए लोहाए सव्वकालियाए सव्वमिच्छोवयाराए सव्वधम्माइक्कमणाए आसायणाए! जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गर्हामि अप्पाणं वोसिरामि।

उन सभी दुष्कृत्यों का (चाहे मन से किए, वचन से किए या काया से किए), क्रोध का, मान का, माया का, लोभ का, सभी प्रकार से की गई आशातनाओं का, मिथ्या उपचार का, मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और उस आत्मा का ही वोसिरण करता हूँ।

यह है गर्हा-वन्दना। इस प्रकार आवश्यक सूत्र में पूरा विधान उपलब्ध है कि किस तरह से गुरू की वन्दना की जाती है। जब गर्हा करने के लिए गुरू के समक्ष उपस्थित होना हो तो इस भाँति पहले गुरू से आज्ञा ली जाती है, फिर उनके चरण स्पर्श किए जाते हैं और उसके बाद भी उस स्पर्श की वजह से उपजी किलामना के लिए क्षमासमण गुरूदेव से क्षमा माँगी जाती है.....। लेकिन आज तो सभी को गुरू के पैर छूने की होड़ लगी हुई है। सोचते हैं, गुरू के पैर छू लेंगे तो कल्याण हो जाएगा। नहीं...., मात्र पैर छूने से कल्याण नहीं होगा।

पैर छूना तो लौकिक व्यवहार है; और गुरू को वन्दन लौकिक विधि से नहीं किया जाता। ये कोई रिवाज़ नहीं है। गुरू की देह का स्पर्श-कोई साधारण बात नहीं है। गुरू की आज्ञा लिए बिना उनके अवग्रह क्षेत्र में प्रवेश करना भी निषिद्ध है। कम से कम साढ़े तीन हाथ की दूरी तक उनका आभावलय क्षेत्र होता है, उस लेश्यावलय के भीतर यदि प्रवेश करना हो तो पहले उनसे आज्ञा लेनी होती है। इसीलिए जब कोई गुरू/गुरूणी भगवंत मना करते हैं कि पैर न छुओ-तो लोग समझते नहीं है। हम ठहरे अज्ञानी, हमें पता नहीं होता और मन ही मन उनके बारे में न जाने कैसी-कैसी बातें सोचने लग जाते हैं। 'अच्छा...., महाराज जी के पास कोई विशेष लब्धियाँ हैं, कहीं उनके पैर छूने से उनकी लब्धियाँ, उनकी शक्तियाँ चली न जाए इसलिए पैर नहीं छूने दे रहे....।' कई लोग सोचते हैं, 'महाराज जी अपने आप को क्या समझते हैं.... जो हमें पैर छूने से मना कर रहे हैं....।' अपने आप को औरों से कुछ अलग, विशेष बनाने के लिए ये agenda बना रखा है इन्होंने, ताकि कुछ special बने रहे....।'

वगैरह-वगैरह। लोग तरह-तरह की बातें बनाते हैं। Knowledge नहीं है इसलिए। ज्ञान के अभाव में आशातना हो ही जाती है।

सूत्र कहते हैं, गुरू भगवंतों को विधिवत् वन्दन करो। जैसे और लोगों को प्रणाम करते हो, बड़े-बुजुर्गों को करते हैं, वैसे लौकिक रिवाज़ से मत करो। न ही देखा-देखी करो। हम सोचते हैं, इस तरह परिक्रमा करके विधिपूर्वक कौन वन्दन करे....इतना समय लगेगा....तो हम इसमें भी short-cut अपनाते हैं। जैसे आप लोग किसी बड़े से मिलने जाते हो, तो 'पैरी पौना', 'पगे लागणी', 'मुजरो सा' करते हो ना, घुटनों तक छूकर....पूरा नीचे पैरों तक तो झुका जाता नहीं, कमर दर्द होता है, तो घुटने तक झुककर नमस्कार कर लेते हैं। ऐसे ही, गुरू महाराज जी भी तख्त पर, आसन पर बैठे होते हैं, तो नीचे भी झुकना नहीं पड़ता, सीधे उनके भी घुटनों को छू लिया, या मत्था रगड़ दिया, और हो गई वन्दना। नहीं....., इस तरह अविधि से की गई वन्दना भावयुक्त भी नहीं होती।

विधि का भी महत्व है। विधि के विज्ञान को समझकर भावपूर्वक की गई वन्दना वन्दनकर्ता को दोषमुक्त करती है। उसे लघु, हल्का बनाती है। गुरू के शुभ्र आभावलय की परिक्रमापूर्वक वन्दना करने से शिष्य की अशुभ लेश्या दूर होती जाती है, और गुरू की शुभ लेश्या उसके भीतर भी आने लगती है। कैसे कोई सद्गुरू अपने शिष्य में अपना संपूर्ण ज्ञान transfer कर देता है, पूरा-का-पूरा शिष्य में ही समा जाता है। शिष्य रूपी योग्य पात्र पर बरस जाता है-इसका तरीका है, शिष्य गुरू की परिक्रमा सहित वन्दना करे। शिष्य गुरू की भावों सहित वन्दना करे। शिष्य गुरू के अवग्रह क्षेत्र electro magnetic field के पास झुक जाए। समर्पित हो जाए।

इसलिए हम कहते हैं कि यह मत सोचो कि गुरूदेव के पैर छुएँगे तो ही satisfaction होगा। जहाँ गुरूदेव विराजमान है, उस स्थान से साढ़े तीन हाथ की दूरी पर भी आप झुकोगे, उस ज़मीन पर भी भावपूर्वक अपना मस्तक झुकाओगे तो गुरूदेव का अतिशय आप पर बरसेगा। पैर छूकर शायद उतना लाभ न भी मिले क्योंकि गुरूदेव केवल देह तक ही सीमित नहीं है। जितना हम उन्हें देख पा रहे हैं, वे मात्र उतने आकार में ही सीमित नहीं है। वे तो हमारी कल्पना से कहीं अधिक विस्तार लिए हुए हैं, वे असीम हैं, विराट हैं। उनका

अतिशय क्षेत्र विस्तृत है, इसलिए अगर आप दूर से भी उन्हें प्रणाम कर रहे हैं तो वह उन तक पहुँच रहा है।

हम देखते हैं न, लोग जब मन्दिर जाते हैं, तो मन्दिर में प्रवेश करने से पहले ही पोढ़ी पर, दहलीज़-जहाँ पैर रखते हैं-वहाँ पर भी पहले प्रणाम करते हैं; फिर मन्दिर के अन्दर प्रवेश करते हैं। जहाँ पर प्रतिमा जी विराजमान है, उस गर्भगृह के भीतर तो हर कोई प्रवेश भी नहीं कर सकता है। प्रतिमा जी को, मूर्ति को बिना विधि के छुआ भी नहीं जाता है। एक निश्चित दूरी से ही मस्तक झुका कर विधिवत् वन्दन किया जाता है। ठीक यही तरीका है गुरू-वन्दन करने का भी। प्रतिमा को स्पर्श करने का अधिकार हर वक्त नहीं होता है। इसी प्रकार केवल जब शिष्य अपनी गर्हा (confess) करने आए, तभी गुरूदेव से आज्ञा प्राप्त करके गर्हा-वन्दना करते हुए उनका स्पर्श करता है, उनके पावन आभामण्डल में प्रवेश करता है, और फिर पुनः क्षमायाचना करता है। यह है वन्दना का विधान....। हम भी सीखें, और सम्यक् प्रकार से गुरू-वन्दन करके अपने विभावों को दूर करें, नीच गौत्र का क्षय करें और शुभ भावों में सतत् गति करते हुए शुभ लेश्या का संचार करें। फिर सर्वत्र आनन्द ही आनन्द होगा....।

ॐ शान्ति! ॐ शान्ति! ॐ शान्ति!!

नमोऽत्थुणं गीतिका

नमस्कार अरहंत भगवन् को, धर्म आदिकर तीर्थंकर को।
स्वयं बोधि को प्राप्त हुए जो, स्वयं नाथ सुख वेदंकर को।।1।।

पुरूष अर्थ में श्रेष्ठ पुरूषसिंह, कमल पुष्प गज गंध मस्त जो।
लोकनाथ उत्तम हितकारी, लोक प्रदीप प्रद्योतमंत जो।।2।।

अभयप्रदाता चक्षुप्रदाता, मगदाता शरणा सुख त्राता।
जीवनदाता बोधिविधाता, धर्मद संत उपदेशक भाता।।3।।

खुदनायक खुद धर्म सारथी, धर्म चक्र के परम चक्रधर।
द्वीप त्राण गति शरण प्रतिष्ठा, भव्यात्मन् को देते शिक्षा।।4।।

दर्शन ज्ञान अप्रतिहत जिनके, छद्मरहित केवल में केवल।
खुद जिन करते जिन साधक को, तैर तिरावें आराधक को।।5।।

बुद्ध बोधि को देने वाले, स्वयं मुक्त मोचक बंधन के।
पार नहीं जिनके दर्शन का, आत्मवेद आनन्द ब्रह्म का।।6।।

पाई सिद्धि परम पावनी, शिव शाश्वत अविचल स्वभाव जो।
रोग रहित अरू अंत रहित है, अक्षत बाधा रहित राव जो।।7।।

पुनः न आना जाना जग में, बैठ झरोखे जगत निहारे।
नमस्कार परमात्मा पद को, जित भय जिन मनभाव सुधारे।।8।।

णमोत्थुणं वन्दना

अनेकान्त सृष्टि में निरपेक्ष रमण करने वाले आप्त पुरूष एवं उनकी आगमवाणी को भाव वन्दन। उपस्थित भव्य आत्माओं की भव्यता को प्रणाम।

जब सौभाग्य उदित होता है, तब ही भव्य आत्मा को वीतराग दर्शन की प्राप्ति होती है। वीतराग दर्शन की उपलब्धि जीवन का परम सौभाग्य है; और वीतराग वाणी को सुनने का अवसर मिलना-यह और भी बड़ी उपलब्धि है.... क्योंकि सुने बिना जाना नहीं जा सकता है।

मनुष्य के लिए 'सुनना' सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। अगर मनुष्य को ठीक से सुनना आ जाए, सुनने की कला आ जाए, तो सुनना ही उसके जीवन में रूपान्तरण लाने के लिए एक क्रान्तिकारी मोड़ पैदा कर देगा। सुनने मात्र से ही परिवर्तन हो जाएगा। लेकिन कैसे आए ठीक से सुनना....? क्या है सम्यक् श्रवण की कला....?

ठीक से सुनने के लिए प्रत्यक्ष गुरू की उपासना करो, पर्युपासना करो। पर्युपासना यानि परि+उप+आसना अर्थात् पूर्णता से गुरू के समीप बैठो-मन भी गुरू के समीप हो, वाणी भी और काया (तन) भी गुरू के समीप हो-समग्र भावों से गुरू को समर्पित होकर बैठो। संसार से निस्सीहि (निवृत्त) होकर बैठो। गुरू के ज्ञान की तरफ ऐसे खुले रहो जैसे कि वर्षा होती हो और सीप अपना मुँह खोलकर बैठी हो....। वर्षा ॠतु में स्वाति नक्षत्र में जब वर्षा की बूँद सीप में पड़ती है तो सीप उसे अपने गर्भ में धारण कर लेती है, तब वो पानी की बूँद सीप के भीतर रहकर मोती बन जाती है।

सीप के भीतर पानी की एक बूँद मोती बन सकती है, तो क्या हमारे भीतर वीतराग की वाणी मुक्ति नहीं बन सकती! देखो, यह शब्द बड़ा प्यारा है-मोती....! इसे संस्कृत में कहते हैं-मुक्ता। और मोक्ष को भी कहते हैं-मुक्ति! वह भी मुक्ति है, यह भी मुक्ति है। वर्षा ॠतु के जल की एक बूँद मुक्ति बन जाती है, जब सीप उसे अपने अन्दर सहेज लेती है। हमारे भीतर भी भगवान की वाणी, गुरू की वाणी मुक्ति बन जाए। आज तक जितनी भी आत्माएँ मुक्त हुई

हैं, उन सब के भीतर किसी सुनहरे अवसर में ज्ञानी की वाणी की एक बूँद गई है, तभी उनके भीतर मुक्ति घटित हो पाई। परन्तु, मुक्ति घटित हो-इसके लिए बूँद को गर्भ में धारण करना आवश्यक है यानि उस आगम वाणी की बरसात को अपने ज़हन में उतारना आवश्यक है। जो इसे अपने अंदर धारण करते हैं, वे मुक्ति का अनुभव पाते हैं। वे आत्मरमण की मस्ती का स्वाद चख लेते हैं, मतवाले हो जाते हैं, और इस मिट्टी की देह में रहते हुए भी अमरत्व को उपलब्ध हो जाते हैं।

पर्युपासना करते-करते आज बनूँ मतवाला मैं।
होकर निस्सीहि आगम सुर का, आत्मरमण पी प्याला मैं।।
आज बनूँ मतवाला मैं।।

''पर्युपासना'' यानि गुरू की उपासना ही वह विधि है जो शिष्य को मुक्ति का स्वाद चखा दे। अब तक हमने जाना गुरू की उपासना कैसे की जाती है? उपासना से पूर्व गुरू-वन्दन किस तरह किया जाता है?

गुरू की वन्दना करने के कई विधान हमारे शास्त्रों व सूत्रों में उपलब्ध है। स्थानकवासी समाज में प्रचलित तरीका है 'तिक्खुत्तो' के पाठ से गुरूवन्दना करने का। दिगम्बर समाज में प्रचलित विधि है 'नमोस्तु' कह कर गुरूवन्दना करना, अथवा परिक्रमापूर्वक गुरूवन्दना करना। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज में 'इच्छामि खमासमणो' के पाठ से गुरूवन्दना की जाती है। इस पाठ को वे गुरूवन्दन करते समय संक्षिप्त रूप में बोलते हैं-

इच्छामि खमासमणो वन्दिउं जावणिज्जाए निस्सीहियाए मत्थेण वन्दामि।

वन्दना करने के, गुरू के प्रति अपने विनय भावों की अभिव्यक्ति के कई तरीके हो सकते हैं; क्योंकि वन्दना करने वाले भी बहुत तरह के लोग हैं। मनुष्य वन्दना करते हैं-उनका अपना तरीका है, पशु-पक्षी भी भगवान को वन्दना करते हैं-उनका अपना तरीका होता है। जब सूर्य उदय होने वाला होता है तो सूर्य के आगमन की खुशी में पक्षी कलरव करने लग जाते हैं। पक्षियों के चहचहाने की आवाज़ सुनकर लोग समझ जाते हैं कि सूर्योदय हो रहा है। चहचहाते हुए वे पक्षी क्या कर रहे हैं....वे सूर्य के आगमन की खुशी मना रहे हैं,

उदित हो रहे सूर्य की वन्दना कर रहे हैं। वन्दना में उनके भीतर से जो स्वर फूटते हैं, हमें तो उनका अर्थ समझ में नहीं आता–इसीलिए कहा जाता है 'खग ही जाने खग की भाषा' यानि पक्षी की भाषा पक्षी ही जानते हैं–वो सूर्य जानता है कि ये खुश हो कर मेरी वन्दना कर रहे हैं, अभिवादन कर रहे हैं। सूर्य आता है, और कमल खिल जाता है। वह भी सूर्य की वन्दना कर रहा है। चन्द्रमा आता है और कुमुदिनी खिल जाती है–वह वन्दना कर रही है चन्द्रमा की। बसन्त आता है और कोयल गीत गाना शुरू कर देती है–वो वन्दना कर रही है बसन्त ऋतु की। वर्षा होती है और वृक्ष हरे-भरे होकर झूमने लग जाते हैं–वे भी वन्दना कर रहे हैं वर्षा ऋतु की.....। जिसको जो प्रिय है, वह उसकी वन्दना कर रहा है।

देवता भी भगवान की वन्दना करते हैं। देवताओं के भीतर भी भक्ति है, भावना है, वे भी भगवान की वन्दना करते हैं। लेकिन उनकी वन्दना करने की विधि हमसे थोड़ी अलग हैं। सूत्रकार बतलाते हैं कि वे 'णमोत्थुणं.....' के पाठ से भगवान की वन्दना करते हैं। शक्रेन्द्र के द्वारा, इन्द्र के द्वारा, देवताओं के द्वारा तीर्थंकर परमात्मा को, ज्ञानी भगवन्तों को किया गया वन्दन है णमोत्थुणं का पाठ; इसीलिए णमोत्थुणं के पाठ का नाम 'शक्रस्तव' है। शक्र इन्द्र के द्वारा की गई प्रभु की स्तुति। देवता द्वारा तीर्थंकर भगवान की स्तुति का, वन्दना का, गुणगान का यह भी एक तरीका है।

अब प्रश्न हो सकता है कि देवताओं ने यह तरीका कहाँ से सीखा ? क्योंकि देवलोक में कुछ नहीं सीखा जाता है। देवलोक की भूमि कर्मभूमि नहीं है, केवल मनस भूमि है वह। वहाँ किसी प्रकार का कर्म नहीं है। वहाँ जो देवता जिस स्थान से गया–उस स्थान पर उसने जो कुछ सीखा, जिस संस्कृति में वह जिया, जैसी शैली उसने अपनाई–वही शैली, वही तरीका, वही आकार उसके पास वहाँ देवलोक में रहेगा। कभी मनुष्यलोक में जब वह मनुष्य था, उस समय अपने गुरू को 'णमोत्थुणं' के पाठ से वन्दना किया करता था–बोलता था 'णमोत्थुणं अरहंताणं भगवंताणं आइगराणं तित्थयराणं....' वही संस्कार, वही भाव, वही पद उसकी मानसिकता में फ्रीज़ (Freeze) हो जाते हैं और फिर देवलोक (भोग भूमि) में बैठे हुए भी वही संस्कार, वही शैली, वही तरीका उनके भीतर से निकलता है। उसे इसी तरीके से वन्दना करनी आती है। वे देवता देवलोक में बैठे हुए ही तीर्थंकर प्रभु को अवधि ज्ञान से देखकर उनके

कल्याणक प्रसंग पर अथवा उनके समवशरण आदि अवसर पर आने से पूर्व उनके प्रति अपने विनय भावों की अभिव्यक्ति स्वरूप सिंहासन से नीचे उतरकर अपना बायाँ घुटना खड़ा करके तीर्थंकर परमात्मा जिस दिशा में विराजमान है, उस दिशा में अपने दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर लगाते हुए णमोत्थुणं के पाठ से भगवान की स्तुति करते हैं। बड़ी प्यारी और बड़ी महत्वपूर्ण स्तुति है यह।बहुत सुन्दर स्तुति है।

गुरू वन्दना करते हुए वे कहते हैं–

'णमोत्थुणं अरहंताणं भगवंताणं'

हे अरहन्त प्रभु! आपको नमस्कार हो।

'णमोत्थुणं' का अर्थ है–आपको नमस्कार हो। जैसे हम कहते हैं, 'नमस्ते', वैसे ही यह शब्द है णमोत्थुणं।यह प्राकृत भाषा का शब्द है, जो आज हमारी भाषा नहीं है। 'णमोत्थुणं अरहंताणं भगवंताणं' अर्थात् योग्यता को उपलब्ध हो चुकी भगवत् चेतना को मेरा नमस्कार।

'आइगराणं तित्थयराणं।'

अर्थात् आप आदिकर हैं, तीर्थंकर हैं। हर गुरू अपने शिष्य के लिए आदिकर होता है, हर गुरू अपने शिष्य के लिए तीर्थंकर होता है, क्योंकि शिष्य की अंतर्यात्रा का प्रारम्भ करवाने वाले, अन्तर्यात्रा आदि करवाने वाले 'गुरू' हैं। यूँ तो दुनिया में किसी की आदि नहीं है, सब कुछ अनादि है–जब सब कुछ सदा था, सदा है और सदा रहेगा–तो फिर आदि किसकी ? लेकिन शिष्य के जीवन की वास्तविक शुरूआत करने वाले तो उसके गुरू ही है, इसलिए शिष्य कह रहा है, आप मेरे लिए आदिकर हो, मेरे जीवन की शुरूआत करने वाले हो। मुझे तिराने वाले आप हो, मेरे लिए आप तीर्थ हो....।'तीर्थ' शब्द का अर्थ होता है–घाट,जहाँ से नौका (नाव) समुद्र में अपनी यात्रा प्रारम्भ करती है। इस संसार को सागर की उपमा दी जाती है–भवसागर, भवोदधि, भवार्णव–यहाँ से जो हमें तिराने वाले हैं, जो हमारे लिए घाट हैं, जहाँ जाकर हमारी नौका भी चल पड़ती है, हम यात्रा कर पाते हैं मुक्ति की, वो 'तीर्थंकर' है। इसलिए गुरू के लिए शिष्य कहते हैं 'तित्थयराणं'–आप मेरे लिए तीर्थंकर हो, मुझे तिराने वाले हो।

'सयंसंबुद्धाणं'

अर्थात् स्वयं सम्बोधि को उपलब्ध। गुरू स्वयं संबुद्ध होते हैं, यानि अपने भीतर पूरी तरह से जाग्रत होते हैं। निश्चय नय से यदि कहा जाए तो हर जीव स्वयं ही संबुद्ध होता है, कोई अन्य निमित्त बन सकता है, लेकिन किसी निमित्त से भी जागना या नहीं जागना, चेतना या नहीं चेतना जीव का अपना स्वतंत्र उपादान है, स्वाधीन चुनाव है-जीव चाहे तो जागे, संभले, चेते, होश में आए और चाहे तो मूर्च्छित ही बना रहे, ग़ाफिल रहे-यह उसका अपना चुनाव होता है....इसलिए बहुत गहरी बात कहता है यह आत्मवादी समण दर्शन-कि आप स्वयं संबुद्ध हो, स्वयं बोधि को उपलब्ध हुए हो।

'पुरिसुत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरियाणं पुरिसवरगंधहत्थीणं'

आप पुरूषों में उत्तम हो, पुरूषों में सिंह के समान हो, पुरूषों मे श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल हो, पुरूषों में श्रेष्ठ गंधहाथी के समान हो। यहाँ शिष्य अपने गुरू को सर्वोत्तम उपमाओं से अलंकृत करके उनकी स्तुति करता है।

'लोगुत्तमाणं लोगणाहाणं लोगहियाणं लोगपईवाणं, लोगपज्जोयगराणं'

अर्थात् आप लोक में उत्तम हो, लोक नाथ हो, लोक हितकारी हो, लोक में दीपक के समान हो, लोक में उद्योत (प्रकाश) करने वाले हो.....। गुरूदेव में ये तमाम गुण हैं, वीतराग चेतनाएँ इन गुणों की धारक है; इसलिए शिष्य उनके गुणगान इस तरह करता है।

'अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं सरणदयाणं'

आप अभयप्रदाता, चक्षुप्रदाता, मार्गप्रदाता, शरणप्रदाता हो। आप हमें अभय देते हो-संसार में सर्वत्र भय है, क्योंकि सर्वत्र मोह है। जहाँ-जहाँ व्यक्ति में मोह है वहाँ-वहाँ भय है, डर है। पहचानें हम अपने भय को.....। हमें धन का मोह है, तो धन के छिन जाने का डर है। जिस रिश्ते में, जिस व्यक्ति से लगाव है, उसके वियोग का, बिछोह का भय है। अपने प्राणों से मोह है, तो प्राण छिन जाने का डर है......जहाँ-जहाँ जिस किसी के प्रति हमारी आसक्ति है, जिससे भी हम बंधे हैं, उसके छूट जाने का हमें भय लगा ही रहता है। यहाँ केवल एक स्थान ऐसा है 'गुरू' का-जहाँ मोह का संबंध नहीं होता है, मात्र गुणों से प्रीति/जुड़ाव होता है। जैसे प्यासे और पानी का संबंध होता है। पिपासु इंसान के लिए पानी अनमोल है, वह उसे जिस किसी विधि से मिले, उसे पाने के लिए वह समर्पित होगा, झुकेगा।

गुरू को कहा 'अभयदयाणं' यानि एकमात्र ऐसा स्थान जहाँ कोई भय नहीं है। गुरू अभयदाता है, क्योंकि वे स्वयं अभय हैं। वे न डरते हैं, न किसी को डराते हैं। सांसारिक लोग तो रूठ जाते हैं, उन्हें बार-बार मनाना पड़ता है, लेकिन गुरू कभी नहीं रूठता है। एक 'गुरू' ही तो है, जो कभी नहीं रूठते हैं-चाहे शिष्य एक महीने बाद जाए, एक वर्ष बाद जाए, या फिर एक जन्म बाद जाए अथवा कई जन्मों के बाद जाए-गुरू का दर शिष्य के लिए हर वक्त खुला है।

गुरू जितना धैर्य, गुरू जितनी उदारता, गुरू जितनी विशालता और किसमें हैं ? इसीलिए तो शिष्य निश्चिन्त रहता है कि जब भी जाऊँगा, वहाँ पनाह मिलेगी ही। जब भी समर्पित होऊँगा, मेरी चेतना जागृत होगी। गुरू में बड़ा धैर्य है। जहाँ आतुरता होती है, वहाँ लोग व्यग्र होते हैं, दौड़ते हैं-कि जल्दी खरीद लो, नहीं तो दुकान बन्द हो जाएगी, अभी तो सेल (sale) लगी हुई है, जो माल खरीदना है, अभी खरीद लो-वहाँ लोग दौड़ते हैं, भागते हैं। लेकिन 'गुरू' का स्थान ऐसा है जहाँ कोई सेल (sale) नहीं लगती, कोई दुकान नहीं सजती, कोई माल नहीं बिकता। हालांकि लोग समझते नहीं है, इसलिए यहाँ भी ऐसी भाषा का प्रयोग कर लेते हैं-कि 'गुरूओं की दुकानदारी है, धर्म का माल बिक रहा है', इसलिए वे धर्म-दलाली भी करने लग जाते हैं ताकि उस लाभ के भागीदार वे भी बन जाएँ। हकीकत में गुरूओं की कोई दुकानदारी नहीं होती है, उन्हें कोई माल नहीं बेचना होता है; वे तो 'विराट अस्तित्व' हैं, 'जागृत चैतन्य' हैं, 'जीवित परमात्मा' हैं-जिस दिन शिष्य के भीतर जिज्ञासा जगेगी, प्यास उठेगी, मुमुक्षा होगी उस दिन वह पहुँच जाएगा गुरू-दर पर.....गुरू का दर सतत् खुला है। वे अनन्त धैर्यवान हैं, सदैव अभय प्रदाता है।

इस दुनिया में ऐसा कोई भी रिश्ता नहीं है, जहाँ हमें किसी भी तरह का डर न हो। है आपका कोई भी Relation ऐसा, जहाँ पर आपको कोई डर न हो ? न केवल संतान को माँ-पिता से डर है, माँ-बाप को भी अपने बच्चों से डर है। डर रहे हैं वे अन्दर ही अन्दर-पता नहीं बेटा क्या करेगा ? कुछ कमाएगा या नहीं ? हमारी इज्ज़त करेगा या नहीं ? पता नहीं बेटी क्या कर गुज़रेगी ? घर छोड़कर भाग तो न जाएगी ? इज्ज़त पर बट्टा तो न लगा देगी ? कुछ बोल न दे, कुछ कर न ले-बड़े डर हैं उनके मन में अपनी संतान के प्रति। पति-पत्नी से डरता

है, पत्नी-पति से। सर्वत्र मोह है, अज्ञान है, इसलिए भय है। एकमात्र 'गुरू' अभयदयाणं है, अभयदाता है। गुरू कभी शिकायत नहीं करता कि तुम आए क्यों नहीं, तुमने हमारा ख्याल क्यों नहीं रखा, सेवा-भक्ति क्यों नहीं की.....। गुरू कभी शिकायत नहीं करता है। तुम आओ, तुम्हारी मर्ज़ी। न आओ, तुम्हारी मर्ज़ी। तुम आओगे तो गुरू की ज्ञान वर्षा में तुम भी भीग जाओगे, नहीं आओगे तब भी बारीश तो हो ही रही है, जब मर्ज़ी हो तब भीग जाना। गुरू कभी भी किसी से शिकायत करता ही नहीं है। गुरू आतुर ही नहीं है, उसे कोई दिलचस्पी नहीं है कि तुम्हारे घर आ कर तुम्हें झंझोड़े और जगाए। कहे कि 'चलो! स्थानक चलो, प्रवचन की रौनक बढ़ाओ....।' नहीं, गुरू कुछ कहता ही नहीं है। गुरू तो कहता है, 'सोने दो सोने वालों को, खोने दो खोने वालों को। रोने दो रोने वालों को, जगने दो जगने वालों को.....।' जिसे जो करना हो, करे; गुरू पूरी स्वतंत्रता देता है-इसीलिए गुरू 'अभयदयाणं' है।

उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठारहवें अध्ययन में वर्णन आता है संजय राजा का। वह शिकार पर गया। एक हिरण देखा तो उस पर बाण छोड़ दिया। हिरण का शिकार किया, हिरण मर गया। मरता हुआ वह हिरण किसी साधु के चरणों पर जा गिरा। अब राजा संजय भय के मारे काँपने लगा, 'हाय! मुझसे बड़ी भारी गलती हो गई। मैंने एक साधु के हिरण को मार दिया। अब क्या होगा? मैंने साधु के हिरण को मार दिया है तो निश्चित ही ये मुझे शाप देंगे। कुपित हो गए तो पूरी नगरी को जला सकते हैं।' हाँ....., लोग ऐसा ही सोचते हैं, कहते हैं, 'महाराज जी से हमें बड़ा डर लगता है क्योंकि यदि उन्होंने ज़रा-सी आँख टेढ़ी कर दी, बद्दुआ या दुराशीष दे दी तो हम कहीं के नहीं रहेंगे। हमारा सब कुछ चला जाएगा।' साधुओं के प्रति कई लोगों की सोच इस तरह की होती है। ऐसी ही मान्यता संजय राजा की भी थी। इसीलिए डरने लगा कि मैंने तपस्वी साधु के पालतू हिरण को मार गिराया है, अब ये मुझ पर क्रुद्ध होंगे, पूरी नगरी को जला कर नष्ट कर देंगे। किसके प्राणों में नहीं समाया हुआ रहता है यह डर? हममें से भी कईयों के मन में ऐसे डर हैं-इसलिए जब कोई हो-हल्ला मचाने वाले साधु आते हैं तो खूब जनता पहुँच जाती है, उनके पास। जब उनसे पूछो कि 'क्या ज्ञान लेने गए थे वहाँ?' तो कहते हैं, 'नहीं, हाज़िरी लगवाने गए थे। महाराज जी की नज़रों में अपना स्थान बनाने गए थे। क्योंकि अगर

महाराजजी को यह पता लगा कि यह आदमी आता नहीं है हमारे पास, तो वक्र दृष्टि हो जाएँगे हम पर, हमारा व्यापार ठप्प हो जाएगा.... ।'

बहुत डरती है जनता, हर युग में लोग डरते रहे हैं साधु-महात्माओं से, तपस्वी मुनियों से, इसीलिए जब साधु लोग अपना रौब झाड़ते हैं, अपना प्रभाव जमाते हैं, तो लोग और ज्यादा डरते हैं और डर के मारे उनकी कही गई हर बात को तुरन्त मान लेते हैं। कई लोग आते हैं साधुओं के पास, और उन्हें सलाह देते हैं कि 'महाराजजी! इतने सरल मत रहा करो। थोड़ा अपना प्रभाव दिखाओ, रौब जमाओ, थोड़ा झाड़ो, थोड़ा डाँटो, तब जाकर जनता आपका कहना मानेगी; वर्ना तो ये लोग किसी की नहीं सुनते हैं.... ।'

डरना और डराना-संसार में सर्वत्र यही चल रहा है...., लेकिन उन संजय राजा के सम्मुख स्थित मुनि ने जब ध्यान पूर्ण कर अपनी आँखें खोली और भय से काँपते हुए राजा को देखा, तो उससे कहा, ''अभओ पत्थिवा तुज्झं, अभयदाया भवाहि य'' अर्थात् 'हे राजन्! तुझे अभय है, और तू भी अभयदाता बन। यहाँ डरने का कोई कारण नहीं है।' निर्ग्रन्थ अणगार न स्वयं डरता है, न ही डराता है। वह किसी भी अपेक्षा का, कामना का, सत्ता का मोहताज नहीं होता। इसीलिए हे राजन्! न तुम स्वयं डरो, न ही किसी अन्य को डराओ।

नियम यह है कि जो डरता है, वही डराता भी है। जो बड़ों से डरता है, वह छोटों को डराता है। आप देखते हैं ना, आपने अपने बड़े लड़के को डाँटा, पीट दिया, वह डरकर चुप हो गया। लेकिन फिर क्या हुआ....सात साल का वह बच्चा अपनी तीन साल की छोटी बहिन को जाकर पीटता है, उससे झगड़ा करता है। पता है क्यों? क्योंकि वह बड़ा है और उसकी बहिन उससे छोटी है। और आपने उसे क्यों डाँटा था? माँ अक्सर बच्चे को तब डाँटती है, जब वह अपने पति से नाराज़ होती है, किसी बात पर झगड़ा हुआ होता है, अथवा सास से लड़ाई हुई होती है, तब जो गुस्सा उसे सास पर या पति पर आता है, वह उन पर तो निकाल नहीं पाती है। वह जाती है और अपने बच्चों को बात-बेबात डाँटने लगती है, उन्हें मारती है। अब बच्चा बेचारा क्या करे? बड़ा बच्चा फिर अपना गुस्सा छोटे पर निकालता है, और छोटा क्या करे? वह भी दुःखी हो गया है, उसे भी डाँट पड़ी है-तो अब वह अपने खिलौने तोड़ता है। ऐसे श्रृंखला चलती रहती है।

इस नाटक को देखो, बड़ा मज़ेदार है यह। अगर आपके पति ऑफिस में काम करते हैं, काम सही नहीं होता, बिगड़ जाता है, तो Boss से डाँट पड़ती है। अब Boss ने डाँट दिया है लेकिन उनके सामने उन्हें कुछ बोल नहीं सकते, क्योंकि कुछ भी बोले तो नौकरी चले जाने का खतरा है। ऐसे में, घर आते ही पत्नी पर बरसना शुरू–हर बात में नुक्स निकालने लगे–चाय ठीक नहीं बनाई, खाना कैसा बनाया है, अभी तक यह काम नहीं हुआ है....आदि आदि। अब वह पत्नी नौकरानी को डाँट रही है, और नौकरानी अपना गुस्सा बर्तनों पर निकाल रही है, बर्तनों को ज़ोर–ज़ोर से पटकती है, बड़ा शोरगुल करती है.....–यह पूरी एक श्रृंखला Chain चलती है। तथ्य यह है कि जो डरता है, वही किसी को डराता है और जो किसी को डरा रहा है, निश्चय में वह स्वयं भी डरता है।

'अभय' का एकमात्र स्थान है गुरू का दर–जहाँ न डरना है, न डराना है। वहाँ भय का कोई काम नहीं है। इसीलिए गुरू की, प्रभु की स्तुति करता हुआ शिष्य कह रहा है–

'अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं'

आप अभयदाता हैं, चक्षुदाता हैं, मार्गदाता हैं।

'सरणदयाणं जीवदयाणं बोहिदयाणं'

आप शरण देने वाले हैं, जीवन देने वाले हैं, बोधि देने वाले हैं।

'धम्मदयाणं धम्मदेसियाणं धम्मनायगाणं धम्मसारहीणं
धम्मवरचाउरंत चक्कवट्टीणं'

अर्थात् आप धर्म देने वाले, धर्म की देशना देने वाले, धर्म के नायक हैं, धर्म रूपी रथ के सारथी हैं और इस चार गति रूप संसार का अंत कर चुके धर्म चक्रवर्ती हैं।

'दीवोत्ताणं सरणगइपइट्टाणं
अप्पडिहयवरणाणदंसणधराणं विअट्टछउमाणं'

आप द्वीप के समान हो, त्राता हो, शरण गति प्रतिष्ठान हो, अप्रतिहत ज्ञान–दर्शन के धारक हो यानि आपका ज्ञान–दर्शन बिना बाधा का है, आपके भीतर से छद्म निकल गया है, छद्मस्थता निकल गई है। आप ऐसे 'जिन' हैं, जो स्वयं को पूर्णतया जान चुके हैं।

जिण्णाणं जावयाणं तिन्नाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं
मुत्ताणं मोयगाणं सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं

आप स्वयं तिर चुके हैं, औरों को तारते हैं, स्वयं बुद्ध हैं, अन्यों को बोध देते हैं, स्वयं मुक्त हैं, औरों को मुक्त कराते हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं।

आपकी अवस्था कैसी है, इसे बताते हुए आगे कहा-

'सिवमयल मरूअ'-आप शिव हो, यानि कल्याणकारी हो।

ध्यान दें हम ज़रा, यहाँ शिव शब्द आया है वीतराग प्रभु की स्तुति करते हुए।'शिव' शब्द समण संस्कृति का है, मूल वेदों में कहीं शिव शब्द नहीं आता है। शिव शब्द का प्रचलन समण संस्कृति में रहा है। कालान्तर में शिव शब्द का उल्लेख उपनिषदों में किया गया। रूद्री पाठ में, जो कि यजुर्वेद के अंत में संकलित है, उसमें प्रथमतः शिव शब्द का प्रयोग हुआ है। हकीकत में शिव कोई देवता नहीं है, वह तो सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा की अवस्था का विशेषण है। आदिनाथ प्रभु के समय से यह शिव शब्द उनकी स्तुति में प्रयुक्त होता रहा है। कई लोग कहते हैं 'शिवोऽहम्' मंत्र जैन धर्म का नहीं है, इसे नहीं बोलना चाहिए; तो फिर णमोत्थुणं के पाठ में तीर्थंकर परमात्मा की स्तुति करते हुए उन्हें शिव क्यों कहा गया है? हमारे यहाँ तो भगवान की वन्दना करने में 'सिव' शब्द आता है।इसलिए कोई फर्क नहीं पड़ता है, सोऽहम् का नाद उठाओ या शिवोऽहम् का-बात एक ही है।

'सिवमयलमरूअमणंत मक्खय मव्वाबाह मपुणराविती'

आप शिव अचल, अरूज (बिना रोग वाले), अनन्त, अक्षय, अव्याबाध (बिना बाधा के), अपुनरावृत्ति (दोबारा न जन्मने वाले)

'सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं-सिद्ध अवस्था को संप्राप्त

'णमो जिणाणं जियभयाणं-जिन भगवान को, जिन्होंने भय को जीत लिया, नमस्कार हो!!

बड़ी प्यारी स्तुति है यह।इस विधि से भी गुरू-वन्दना की जाती है।यह वन्दन विधि इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि यह वन्दना करते हुए शरीर एक विशेष Posture ग्रहण करता है-बायाँ घुटना खड़ा करके दाएँ घुटने को पीछे मोड़ते हुए बैठकर यह स्तुति गान किया जाता है।इस स्थिति (posture) में बैठने से शरीर एक विशिष्ट आकृति को ग्रहण करता है, जिससे भीतर में प्राणों की

धारा कुछ इस तरह से प्रवाहित होती है कि स्तुति करता हुआ वह साधक भक्ति के भावों में रमण करने लगता है। क्योंकि दाएँ पैर को दबाकर बाएँ घुटने को खड़ा करके बैठने से व्यक्ति का चन्द्र स्वर चलने लगता है, ईड़ा नाड़ी संचालित होने लगती है। बाएँ नथुने से श्वास का चलना चंद्र स्वर कहलाता है, जो कि मस्तिष्क के दाएँ हिस्से को प्रभावित करता है जो कि भावना का-भक्ति का, शांति व सौम्यता का प्रतीक है। भावुकता प्रधान चित्त वाले व्यक्ति अक्सर भावनाओं के ज्वार में बहकर जल्दी आवेशित-उत्तेजित हो जाते हैं। वे आवेगों में बहकर शीघ्र ही अपना patience छोड़ देते हैं, धैर्य खो बैठते हैं, असंतुलित हो जाते हैं। इसलिए ऐसे लोगों को अपने भावों को सही दिशा में लाने के लिए बायाँ घुटना ऊँचा करके वीतराग परमात्मा की भक्ति करनी चाहिए, गुरू गुण स्तुति करनी चाहिए।

प्रवचन सभा में अथवा गुरू की उपासना में बैठने के लिए तीन प्रकार के आसन बताए जाते हैं-पहला, पालथी लगा कर बैठना। इससे शरीर की आकृति चारों कोनों में समान होने से शरीर के किसी भी हिस्से पर ज्यादा वज़न नहीं आता, जिससे शरीर संतुलित रहता है। परिणामस्वरूप प्राणधारा की गति सम्यक् रहती है। दूसरा है वज्रासन। यह भी उपासना का आसन है। मुस्लिम लोग नमाज़ अदा करते समय इसी आसन में बैठते हैं-दोनों पैर पीछे डाल के घुटने आगे-इस आसन में भी पूरा शरीर संतुलन की स्थिति में रहता है। तीसरा यह आसन है जिसकी बात हम कर रहे थे-बायाँ घुटना खड़ा करके अंजलिबद्ध होना। शास्त्रों में वर्णन मिलता है, गणधर गौतम स्वामी जब भी कोई प्रश्न पृच्छा के लिए समण भगवान महावीर के पास जाते तो उनके दाहिनी ओर बैठ कर, बायाँ घुटना उठा कर दाँये घुटने को नीचे दबा कर दोनों हाथों को जोड़कर विनयपूर्वक इसी आसन में बैठते थे।

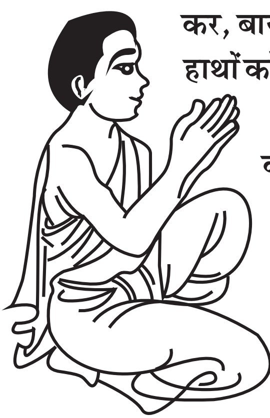

तिक्खुत्तो के पाठ से वंदन करते हुए जब शिष्य गुरू की परिक्रमा करता है, तो परिक्रमा करते ही क्षण भर में ही उसके भीतर की ऊर्जा उर्ध्व दिशा में प्रवाहित होने लग जाती है, अद्भुत electricity, (विद्युत प्रवाह) उसके भीतर पैदा होती है, उसकी चित्तधारा बिल्कुल बदल जाती है, psyche एकदम change हो जाता है-लेकिन यह प्रभाव तुरन्त और क्षणिक

होता है। किन्तु जब शिष्य गुरू की पर्युपासना में शांतचित्त होकर बैठता है, गुरू गुणों की स्तुति में बायाँ घुटना उठा कर णमोत्थुणं के आसन में गुरू-वंदना करता है, तो उसके भीतर स्थाई परिवर्तन होने लगता है। वह लम्बे समय तक चलने वाला प्रभाव होता है। इसलिए सामायिक में-साधक णमोत्थुणं के आसन में बायाँ घुटना खड़ा करके भी बैठता है। चैत्य वंदन के पश्चात् गुरूभक्ति में भजन गाते समय भी इस आसन में बैठा जाता है किन्तु जब उस साधक को आलोचना, प्रतिक्रमण व निरीक्षण करना होता है, तब वह दायाँ घुटना उठा कर बाएँ को दबा कर बैठता है। यह Posture व्यक्ति के पुरूषार्थ को, संकल्प क्षमता को जगाता है।

इन सभी आसनों के विधान में भी बड़ा रहस्य है, विज्ञान है। हम इसे समझें और प्रयोग में लाएँ। जब भी दिमाग असंतुलित हो रहा हो, भावुकतावश बार-बार मोहपूर्ण विचार आ रहे हो-उन क्षणों में शरीर का आसन बदलें, दाहिने पैर को पीछे मोड़कर बायाँ घुटना ऊपर उठाकर बैठ जाएँ। 'णमोत्थुणं' के पाठ से गुरू गुण स्तुति करने से जो भावनाएँ गलत स्थान पकड़ रही थी, वे सही स्थान में आ जाएगी, सम्यक् दिशागामी होकर भक्ति में जुड़ जाएँगी।

णमोत्थुणं का आसन, णमोत्थुणं की साधना, णमोत्थुणं की वन्दना व्यक्ति के आन्तरिक व्यक्तित्व को रूपान्तरित कर देती है। यह गुरू-वन्दना की वह विधि है, जो देवताओं के द्वारा भगवान की स्तुति में की जाती है। यह पाठ हमें अपने यथार्थ स्वरूप में प्राप्त है। हम गुरूदेव को इस पाठ के द्वारा भी वन्दन कर सकते हैं। सूत्रों में उल्लेख आता है कि अम्बड़ परिव्राजक के शिष्यों ने भी अपने धर्माचार्य व धर्मोपदेशक, अम्बड़ को णमोत्थुणं के पाठ से वन्दना की।

परिक्रमापूर्वक गुरू वन्दना दिन में प्रायः एक ही बार की जाती है। प्रातःकाल में ही शिष्य गुरू की परिक्रमापूर्वक वन्दना कर लेता है। उसके बाद हर कार्य करने से पहले शिष्य गुरू को 'इच्छामि खमासमणो' अथवा 'मत्थएण वंदामि' कह कर वन्दना करता है और आज्ञा लेता है। आवश्यक कार्य करने के लिए आने और जाने से पहले गुरू को वन्दन करके आज्ञा प्राप्त की जाती है। हर समय परिक्रमापूर्वक वन्दना नहीं की जाती। जब वह गुरू के समीप अथवा एकान्त में शान्ति से उपासना करने के लिए बैठता है, तब वह णमोत्थुणं के पाठ से गुरू भक्ति कर सकता है, वन्दना-स्तुति कर सकता है।

इस प्रकार भावपूर्वक गुरू वन्दना करने से व्यक्ति के भीतर का रसायन बदल जाता है। वह जीवन के एक नए भिन्न आयाम में प्रवेश करता है....कैसे करता है, कैसे बदलता है वह, कैसे होता है यह सब-यह वर्णन हम आगे जानेंगे। आज इतना ही।

ॐ शान्ति.... ॐ शान्ति..... ॐ शान्ति......

शक्रस्तव-सूत्र पाठ

णमोत्थुणं अरहंताणं भगवंताणं आइगराणं तित्थयराणं सयं- संबुद्धाणं। पुरिसुत्तमाणं, पुरिस-सीहाणं, पुरिस-वर-पुंडरियाणं, पुरिस- वर-गंधहत्थीणं। लोगुत्तमाणं, लोग-नाहाणं, लोग-हियाणं, लोग-पईवाणं, लोग-पज्जोय- गराणं। अभय-दयाणं, चक्खु-दयाणं, मग्गदयाणं, सरण- दयाणं, जीव-दयाणं, बोहि-दयाणं, धम्म-दयाणं, धम्म- देसियाणं, धम्म- नायगाणं, धम्म सारहीणं, धम्म-वर चाउरंत-चक्कवट्टीणं।

दीवोत्ताणं, सरण-गइ-पइट्ठाणं, अपडिहय-वर नाण-दंसण- धराणं, विअट्ट-छउमाणं जिणाणं-जावयाणं, तिण्णाणं-तारयाणं बुद्धाणं- बोहयाणं, मुत्ताणं-मोयगाणं।

सव्वन्नूणं सव्व दरिसीणं, सिव-मयल मरूअ-मणंत-मक्खय- मव्वाबाह- मपुणरावित्ति सिद्धिगइ- नामधेयं ठाणं संपत्ताणं नमो जिणाणं जियभयाणं।

आसीन गुरू के पास मात्र देखता रहूँ

यूँ चेतना की सूक्ष्म लहरें, लेखता रहूँ।
आसीन गुरू के पास मात्र देखता रहूँ।।टेर।।

ज्ञाता रहूँ दृष्टा रहूँ, कर्त्ता नहीं रहूँ, कि मैं कर्त्ता नहीं रहूँ।
अपने लिए सुविधाओं का हर्त्ता नहीं रहूँ, कि मैं हर्त्ता नहीं रहूँ।
सृष्टि को आत्मिक भाव से निरपख मना सहूँ।।1।।
आसीन गुरू के पास.....
अनुमोदना करना-कराना गर्व का गुण है, अरे ये गर्व का गुण है।
अच्छा-बुरा अपना-पराया धारणा धुन है, अरे बस धारणा धुन है।
सुनता समझता तो रहूँ, कुछ बोल ना कहूँ।।2।।
आसीन गुरू के पास....
सेवा समर्पण पूर्ण हो, खुद को करूँ कुरबाँ, अरे! खुद को करूँ कुरबाँ।
आज्ञा ही धर्म भाव हो, गुरू ही मेरा जहाँ, कि गुरू ही मेरा जहाँ।
समझाने का गुर छोड़, गुरू के ज्ञान को ग्रहूँ।।3।।
आसीन गुरू के पास.....
इतनी कृपा करो निमित्त आशीष गुरू मिले, मुझे आशीष गुरू मिले।
कदमों में खो जाऊँ कि बंधन ही न कुछ बचे, कि बंधन ही न कुछ बचे।
बस यूँ विराट बन सकूँ गुरू में गुरू बन बहूँ।।4।।
आसीन गुरू के पास.....

वंदना का फल क्या ?

तिन्नाणं-तारयाणं आप्त पुरूष एवं आगम वाणी को भाव वन्दना। उपस्थित भव्य आत्माओं की भव्यता को प्रणाम।।

प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम प्रभु महावीर स्वामी के समक्ष निरन्तर अपनी जिज्ञासाएँ व्यक्त करते जाते हैं और प्रभु महावीर गणधर गौतम के हर प्रश्न का समाधान करते जाते हैं। महावीर वाणी तभी फूट पाती है, जब इन्द्रभूति गौतम की एवं ऐसे ही अन्य जिज्ञासु साधकों की जिज्ञासाएँ उनके सामने आती है। गुरूजनों के भीतर का ज्ञान भी तभी प्रकट होता है, जब शिष्य जिज्ञासा से भरा हो, सीखने को उत्सुक हो, ज्ञान लेने के लिए तत्पर हो, उसके भीतर ज्ञान व ज्ञानी के प्रति अटूट समर्पण हो, विनय हो, कृतज्ञता हो।

गणधर गौतम स्वामी पूछते हैं, 'प्रभु! वन्दना करने से क्या होता है ?' 'वन्दणएणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?' अर्थात् हे भगवन्! वन्दन करने से जीव को क्या होता है ? क्या परिवर्तन आता है ? क्या जनित होता है अर्थात् निष्पन्न होता है ? क्योंकि उन्होंने देखा है-सुना है, जाना है-जिया है, कि जब शिष्य गुरू की सतत् परिक्रमा करता है, तो जैसे-जैसे शिष्य गुरू की परिक्रमा करता जाता है, शिष्य के भीतर की चेतना बदलती चली जाती है, उसके भीतर का रूप बदल जाता है, उसके भीतर की गंध बदल जाती है, उसकी भावदशा बदल जाती है, उसकी लेश्या बदल जाती है-तो प्रश्न उठना स्वाभाविक था-कि ये चमत्कार कैसे.... ? चेतना परिवर्तन कैसे.... ? तब महावीर वाणी निनादित हुई कि

''वन्दणएणं णीयागोयं कम्मं खवेइ
उच्चागोयं कम्मं णिबंधइ
सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं णिव्वत्तेई।
दाहिणभावं च णं जणयइ।।''

अगर शिष्य, साधक अथवा उपासक अभिगम सहित परिक्रमापूर्वक

गुरू की वन्दना करता है, तो जैसे-जैसे उसका चित्त, उसकी वाणी, उसकी देह परिक्रमा में रत होती जाती है वैसे-वैसे उसके भीतर से नीच गौत्र कर्म का क्षय होता जाता है और उच्च गौत्र कर्म की प्राप्ति होती जाती है। सौभाग्य की प्राप्ति होती है। अप्रतिहत आज्ञाफल की प्राप्ति होती है और दाक्षिण्यभाव भी प्रगट होता जाता है।अप्रतिहत अर्थात् बिना बाधा के, बिना रूकावट के।

यहाँ हम गौत्र कर्म को समझें। गौत्र कर्म से तात्पर्य है कि व्यक्ति के भावों की गति का वर्तुल जो है, वह किस तरह का है..उसकी फ्रीक्वेंसी कैसी है। हम सब के भीतर निरन्तर भाव उठते रहते हैं, क्योंकि आत्मा का अस्तित्व ही सतत् भावमय है, चेतना उपयोग लक्षण वाली ही है। हमारे भाव जहाँ-जहाँ गति करते हैं वहाँ-वहाँ हमारी आत्मा की भी गति है, और जहाँ-जहाँ विचारों की गति है, वहाँ-वहाँ मन की गति है।हमारे शरीर में प्रतिपल रक्त का संचार हो रहा है, मन में प्रतिपल विचारों का संचार हो रहा है, और आत्मा में प्रतिपल भावों का संचार चल रहा है-ये तीन तरह की गति (motion) हमारे भीतर सतत् होती रहती है।तो, हमारे भीतर भावों की गति का वर्तुल कैसा है? कैसा है हमारे भावों की गति का वृत्त (circle)-वही हमारा 'गौत्र' है।

भावों की गति दो तरह की होती है-एक-उच्च, विशिष्ट; और दूसरी है-निम्न, हीन, क्षुद्र। एक है उर्ध्व गति (high frequency) और दूसरी है अधोगति (low frequency) यह भावों की गति का वर्तुल ही है जो निर्धारित करता है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व कैसा है, व्यक्ति के व्यक्तित्व की संरचना कैसी है, व्यक्ति की जीवनशैली कैसी है। क्योंकि शरीर के लिहाज़ से तो सभी लोग एक सरीखे ही है, कोई विशेष अन्तर नहीं है। हर आदमी खाना खाता है, पानी पीता है, रात में सोता है, सुबह उठता है-सारी शारीरिक क्रियाएँ वैसी ही करता है। फिर साधारण आदमी और असाधारण अथवा विशिष्ट आदमी के बीच अन्तर क्या है ? चाहे राष्ट्रपति हो या प्रधानमंत्री हो, नेता हो या अफसर हो, साधारण-सा क्लर्क हो या मज़दूर हो-शारीरिक संरचना की दृष्टि से इनमें कोई खास अन्तर नहीं है, कोई विशिष्टता नहीं है। फिर इनमें परस्पर विशिष्टता पैदा करने वाला तत्व कौनसा है, कहाँ है ? शरीर के स्तर पर किसी की ज़िन्दगी में कहीं कुछ खास अन्तर नहीं है-चाहे वह साधु हो या सावग हो, गृहस्थी हो-शरीर का क्रम प्रायः सबका एक समान है। अन्तर अगर कहीं है, तो वह उनके भावों की गति में है।

एक पुलिस ऑफिसर के भावों की गति अलग होगी और एक क्लर्क (clerk) के भावों की गति अलग होगी.... ? आप एक ही प्रश्न क्लर्क से पूछ कर देखो और वही प्रश्न ऑफिसर से पूछ कर देखो-समान प्रश्न होने पर भी उत्तर दोनों के अलग-अलग होंगे। जवाब सुन कर ही आप पता लगा लोगे कि यह जवाब देने वाला कौन है ? एक अन्धे व्यक्ति को अगर कोई 'जय राम जी' कह कर जा रहा है, तो वो 'जय राम जी' कौन कह रहा है, उस अंधे व्यक्ति को भी पता चल जाएगा। कारण कि 'जय राम जी' कहने के तरीके सबके अलग-अलग होंगे। जो नौकर है, वो 'जय रामजी' अलग तरीके से कर रहा है, जो सेठ है वो अलग तरीके से कह रहा है, और अगर वहीं से कोई राजा निकल गया है तो उसका 'जय राम जी' कहने का अंदाज़ ही अलग होता है। वह प्रज्ञाचक्षु (blind) व्यक्ति केवल आवाज़ सुनकर ही बता देगा कि आपका पद क्या है ? आपके बोलते ही पता लग जाएगा कि आप क्या हो। न बोलो, तब तक पता लगे अथवा न लगे, क्योंकि साधारण इंसान इतना दिव्य दृष्टि संपन्न नहीं होता कि वह किसी के लेश्यावलय (magnetic field) को देख सके। किसी के magnetic field को देखने के लिए हमारी sixth sense जागृत होनी चाहिए। यदि हमारी इन्द्रियातीत क्षमता जगी हुई है, तभी हम किसी के magnetic field को देख सकते हैं। लेकिन magnetic field न भी देख सको, तो भी बोलने की शैली से, चलने की शैली से, उसके जीने के अन्दाज़ से ही पता लग जाएगा कि यह किस गौत्र का व्यक्ति है-उच्च गौत्र सम्पन्न है या निम्न गौत्र का है।

यह 'गौत्र' ही है जो व्यक्ति के जीवन में अन्तर (भेद) लाता है, उसकी वाणी को विशिष्ट व मन को उच्चतर मूल्यों की तरफ प्रेरित करता है। जो उच्चतर मूल्यों यानि सद्‌गुणों की तरफ आकर्षण पैदा कराए वह उच्चगौत्र है और इसके विपरीत है नीच गौत्र। गौत्र का संबंध शरीर से नहीं है। शरीर तो सभी का एक जैसा है, चाहे काले रंग का हो या गोरे रंग का। सबकी शारीरिक घटनाएँ एक सरीखी है, लेकिन गौत्र सबके अलग-अलग हैं। जब तक कोई व्यक्ति उच्च गौत्र सम्पन्न नहीं हो जाता है, तब तक वह अपनी आत्मा को भी उपलब्ध नहीं हो सकता। विशिष्ट पराक्रम को उपलब्ध नहीं हो सकता, क्योंकि विशिष्ट पराक्रम जगाने के लिए उसे एक विशिष्ट भावदशा की आवश्यकता है, और वह विशिष्ट भावदशा बिना उच्च गौत्र के नहीं प्राप्त होती। तो अब उच्च गौत्र की प्राप्ति कैसे हो... ?

'उच्च गौत्र' उच्च गौत्रसंपन्न पुरूष की संगति के बिना, उनकी उपासना के बिना, प्रेम-भक्ति व समर्पण के भावों के बिना प्राप्त नहीं होता। ज्ञानी गुरू की उपासना से, उनकी वन्दना से उच्च गौत्र कर्म का बन्ध होता है यानि उच्च गौत्र की प्राप्ति होती है। इसलिए एक साधारण अज्ञानी व्यक्ति भी अगर ज्ञानी गुरू के पास बैठना शुरू कर दे, ज्ञानी की परिक्रमा करे, ज्ञानी को वन्दना करे, ज्ञानी के गुणों का भावों से गुणगान करे, स्तुति करे-तो वह अज्ञानी भी ज्ञानी हो जाएगा। ज्ञानी के प्रति प्रेम व अहोभाव भी आपको उच्च गौत्र की प्राप्ति करा देगा। जैसे गौतम बुद्ध के प्रति प्रेम रखने वाली मुर्गी अगले जन्म में राजकुमारी बन गई। भगवान महावीर के प्रति प्रेम रखने वाला चण्डकौशिक सर्प और नंदमणिहार के भाव से मेंढ़क बना जीव भी देव गति का देवता बन गया।

अज्ञानी व्यक्ति भी ज्ञानी हो जाए, यदि ज्ञानी के समीप रहे; और ज्ञानी व्यक्ति भी अज्ञानी हो जाए अगर मूर्खों की संगति में आकर उनसे लगाव लगा बैठे। आप जिससे प्यार करते हो, जिससे लगाव रखते हो, जिसके संग रहते हो, धीरे-धीरे वैसे ही रंग में रंगने लग जाते हो। इसीलिए कहते हैं, संगत में बड़ी रंगत होती है। 'जैसी संगत, वैसी रंगत'। अगर कोई व्यक्ति भक्तिभाव से गुरू की परिक्रमा करे, तो चाहे वह कैसा ही बाल हो, कैसा ही मूढ़ हो, कैसा ही अज्ञानी हो, चाहे मानव, देव या तिर्यंन्च कोई भी क्यों न हो। किसी न किसी दिन स्वयं 'गुरू' हो जाएगा। बस, 'गुरू' की परिक्रमा हो साढ़े तीन हाथ की दूरी से। हमारा लेश्याचक्र और गुरू का लेश्या (आभा) वलय-दोनों आपस में स्पर्श कर रहे हो....। एक लेश्या वलय (अशुभ, अपवित्र) दूसरे लेश्या वलय (शुभ, पवित्र) की परिक्रमा कर रहा है....। हम गुरू के भौतिक देह की ही परिक्रमा नहीं कर रहे हैं, हम गुरू के प्राण-शरीर की, उनके लेश्या वलय की परिक्रमा (प्रदक्षिणा) कर रहे हैं। और जैसे-जैसे परिक्रमा हो रही है, शिष्य घूम रहा है गुरू के चारों तरफ, वैसे-वैसे शिष्य की अशुभ लेश्या दूर होती जा रही है....। गुरू की शुभ लेश्या उसके अन्दर विकसित होती जा रही है, फैलती जा रही है।

जितना गहरा समर्पण, उतना जल्दी रूपान्तरण। जितना कम समर्पण व प्रेम, उतना ज्यादा विषय-कषाय रूप संसार, वैर-विरोध, नकारात्मकता। समर्पण और भक्ति के भावों से यह निर्धारित होगा कि आप क्या प्राप्त करते

हो...। यदि आप गुरू के गुणों के प्रति समर्पित हो, तो आप जैसे-जैसे परिक्रमा करते जाते हो, आप में भी गुण उजागर होते जाएँगे। यदि कोई व्यक्ति गुरू के प्रति वैर-विरोध रखता है, शंका और शिकायतों से भरा हुआ है; फिर कदाचित् वह गुरू की परिक्रमा भी कर ले, तो भी वह गुरू से गुण नहीं ग्रहण कर पाएगा, उल्टा अपनी negativity को ही बढ़ाएगा। इसलिए मन की शुद्धि हुए बगैर व्यक्ति परिक्रमा नहीं कर सकता है। जब वह पवित्र चित्त से, समर्पित भावों से गुरू की परिक्रमा करता है, तो जैसे-जैसे वह गुरू की परिक्रमा करता है, उसके भीतर गुरू प्रवेश करता है, गुरू की दिव्यताएँ उजागर होने लगती है, और उसका गौत्र यानि उसका magnetic field प्रबल, प्रभावशाली (powerful) होता चला जाता है।

हर व्यक्ति का अपना magnetic field होता है, उसके भावों की गति से निर्मित एक चुंबकीय क्षेत्र होता है, Aura (ऑरा) होता है। न सिर्फ व्यक्तियों का, बल्कि हर प्राणी का अपना एक magnetic field होता है। पेड़-पौधों का भी अपना magnetic field है, पशुओं के पास भी अपना magnetic field है, मनुष्यों का भी अपना-अपना magnetic field है। कई बार छोटे बच्चों का aura भी बहुत ही पवित्र और strong होता है, और उनकी तुलना में बड़े लोगों का कमज़ोर हो सकता है।

कई बार तथाकथित धार्मिक लोगों का भी aura अच्छा नहीं होता, क्योंकि वे शिकायतों से भरे होते हैं। वे जहाँ जाते हैं, कमियाँ देखते रहते हैं। जहाँ जाते हैं, वहाँ शिकायतें करते रहते हैं; इसलिए उनका aura नकारात्मक ही होता है। उनकी सोच भी संकुचित होती है। 'अपना-अपना देखो', 'अपना कल्याण करो, बाकी को छोड़ो।' 'दूसरे जो करे वो पाप, हम जो करें वह पुण्य।' जो लोग ऐसे क्षुद्र विचारों से भरे रहते हैं, उनका aura अच्छा नहीं होता। जब तक कोई अपनी भावनाएँ, सोच व अपना aura नहीं बदलता, तब तक वह अपनी प्राणधारा को ऊपर नहीं उठा सकता। सम्यग्दृष्टि संपन्न नहीं हो सकता है। अपने अन्तर् को बदले बिना यह संभव ही नहीं है।

अध्यात्म हो या उच्चतर शिक्षा, रूपान्तरण का प्रारम्भ ही यहाँ से होता है कि व्यक्ति पहले गुरू रूपी गुण पिण्ड के समक्ष अपना अहं छोड़े, समर्पण करे, गुरू रूपी गुण पिण्ड की भक्तिपूर्वक परिक्रमा करे, ताकि उसके भीतर का शौर्य जागे, पराक्रम जागे। उसके भीतर उच्च भावधारा प्रविष्ट हो सके,

उसके चारों ओर का magnetic field पावन लेश्या वाला हो सके, उसकी अशुभ लेश्या दूर हो सके-काली, नीली और कबूतरी रंग वाली लेश्या यानि कृष्ण, नील और कापोत-ये तीनों अशुभ लेश्या उसके भीतर से दूर हो सके। जब तक ये अशुभ लेश्याएँ है, तब तक वह व्यक्ति जहाँ जाता है, वहाँ के वातावरण को प्रदूषित करता है। जहाँ बैठता है, वहाँ के वातावरण को खराब करता है। इसलिए काली, नीली और कबूतरी-इन लेश्याओं को, इन निम्न विचारधाराओं को छोड़ना आवश्यक है। ये छूट सकती है, अगर व्यक्ति के भीतर गुरू के प्रति अहोभाव जगा है, प्रेम जगा है, सेवा का, वैय्यावच्च का भाव जगा है, उन्हें साता पहुँचाने की भावना जगी है।

परिक्रमा को यदि धर्म से न भी जोड़ा जाए, तो मात्र विज्ञान के Electromagnetic Induction 'विद्युत चुम्बकीय प्रेरण' से भी इसे समझा जा सकता है। जब एक conductor (संवाहक) जिसमें अभी विद्युत-चुम्बकीय क्षमता नहीं है अथवा कमज़ोर है, जब वह एक electromagnetic inductor यानि विद्युत चुम्बकीय प्रेरक के चुम्बकीय क्षेत्र में प्रवेश करता है, तो वह प्रेरक संवाहक (conductor) की क्षमता अनुसार उसकी चुम्बकीय शक्ति बढ़ा देता है, उसका चुम्बकीय क्षेत्र strong, सशक्त बना देता है। ठीक यही घटना घटती है, जब शिष्य गुरू की परिक्रमा करता है। गुरू के सशक्त लेश्यावलय (Powerful Magnetic Field) से वह charged हो जाता है। गुरू की ऊर्जा शिष्य में Transfer होने लगती है। गुरू में परमात्मा है, गुरू में ब्रह्माण्डीय चेतना (Cosmic Consciousness) है, गुरू 'विराट' है, भगवत् स्वरूप को उपलब्ध हो चुका है-अपने विराट स्वरूप की झलक गुरू अपने शिष्य को देता है। अगर किसी साधारण व्यक्ति को एक बार विराट की झलक भी दिख जाए, तो फिर वह साधारण व्यक्ति साधारण नहीं रहता। फिर वह सामान्य संसारी व्यक्तियों की तरह नहीं जीता। वह रहता संसार में है लेकिन अब उसके जीने का अंदाज़ बदल जाता है, उसके सोचने का तल भिन्न (Different) हो जाता है, उसका देखने का नज़रिया परिवर्तित हो जाता है। कदाचित् किसी क्षण वह उच्च फ्रीक्वेंसी से विचलित हो भी जाए, तब भी गुरू की नज़र उसे लौटा लेती है। गुरू के साथ जुड़ा आत्मीय संबंध उसे कभी भी चक्रव्यूह में फँसने व मरने नहीं देता।

यही अद्भुत घटना तो घटी थी श्री कृष्ण और अर्जुन के बीच। अर्जुन

हमारे जैसा ही है, साधारण। अर्जुन यानि हम जैसे लोग। अर्जुन शब्द का अर्थ भी बड़ा विचित्र है, अ-ऋजु, यानि जो ऋजु नहीं है, जो सरल नहीं है। हम जैसे लोग-जो सरल नहीं हैं। हमारे दिमाग में बड़ी वक्रता है, टेढ़ापन है। हमारे दिल में बड़ी कुटिलता है। हमारी सोच में ही बाँकपन है-कहाँ-कैसे-किसकी बात जमानी, किसकी उखाड़नी, कैसे मिटाना, किसे रखना, किससे तोड़ना, किससे जोड़ना-ये सारी वक्रता हमारे दिमाग में चलती रहती है। इतनी शंकाओं से भरा हुआ हमारा चित्त, इतनी कुटिलताओं से भरा हुआ हमारा चित्त कैसे गुरू को समर्पित हो? विश्वास ही नहीं करते हम गुरूवाणी पर। सुनते हैं, लेकिन आस्था कहाँ जगती है उस पर....। हम भले कितना ही सुन लें गुरूवाणी को, लेकिन उस पर आस्था जगनी आसान नहीं है।

प्रश्न-पर-प्रश्न पूछे जाता है, तर्क-पर-तर्क उठाए जाता है अर्जुन; लेकिन श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'चाहे तू कितने ही तर्क कर ले, अर्जुन! सत्य को तर्कों से हासिल नहीं किया जाएगा। सत्य को केवल देखा जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है, उसे तर्कों से कभी हासिल नहीं किया जा सकता।' तब एक पल के लिए मूक हो गया अर्जुन, अवाक् रह गया। उसे लगा मैंने इतने प्रश्न कर लिए, इतने तर्क दे दिए, लेकिन उनकी परिणति क्या हुई....! ये कृष्ण मुझे हर जगह पर बाँध देते हैं, मैं किसी भी रास्ते से बच कर भागना चाहूँ-ये वहीं खड़े मिलते हैं, ये अपनी वाणी की धार से मेरे हर तर्क को गिरा देते हैं, मेरे हर प्रश्न को निःशेष कर देते हैं।

गुरू बड़ा प्रज्ञावान है। शिष्य चाहे लाख प्रश्न उठा ले, चाहे जितनी शंका कर ले, जितने मर्ज़ी तर्क कर ले-गुरू हमेशा उसे आगे खड़ा मिलता है। शिष्य के तर्कों से ऊपर होती है गुरू की वाणी। 'गुरू' शब्द का तो अर्थ ही होता है-भारी। आखिर अर्जुन थक गया, हार गया-कि मैं आपको बातों में नहीं उलझा सकता, नहीं फँसा सकता, नहीं जीत सकता-एक पल के लिए वह ढीला पड़ गया। जैसे ही वह शिथिल हुआ, उसकी चेतना दिमाग से उतरी, दिल तक आई। जब तक चेतना दिमाग में घूमती है, तब तक तर्क-वितर्क रहते हैं। जिस दिन हमारी भावधारा, हमारी चेतना दिमाग से उतरकर दिल पे आ जाती है, उस दिन तर्क खत्म हो जाते हैं। अर्जुन भी कोई साधारण व्यक्ति तो नहीं है, बड़ा पण्डित है, प्रवीण है, बुद्धिमान है, कुशल है, लेकिन एक पल के लिए वह अपनी बुद्धि से परे हटकर मस्तिष्क केन्द्र से नीचे उतरा और हृदय केन्द्र पर

आया। बस, श्रीकृष्ण यही तो चाहते थे कि वह हृदय केन्द्र पर आ जाए, क्योंकि हृदय केन्द्र पर आए बिना शिष्य गुरू के वास्तविक स्वरूप के, आन्तरिक दिव्यता के दर्शन नहीं कर सकता।

शिष्य गुरू का दर्शन तभी कर सकता है, जब उसकी भाव धारा हृदय केन्द्र पर आए। वह मस्तिष्क से गुरू को समझना चाहे या गुरू को देखना चाहे–तो यह संभव नहीं है क्योंकि गुरू हमारे मस्तिष्क की सोच–समझ से परे है। वह असाधारण है। साधारण आदमी बिना मस्तिष्क के किसी को देखता ही नहीं, सोचता ही नहीं, समझता ही नहीं। हम देखें, हम किसी से भी मिलते हैं तो हमारा दिमाग चलता है या नहीं...। क्या नाम है, किस जाति से हैं, कहाँ के रहने वाले हैं, कितना कमाते हैं, कैसा खाते हैं, कैसे रहते हैं, क्या position है समाज में उनकी–ये सारी बातें हमारे दिमाग में चलती रहती है। दिमाग सारी जानकारी इकट्ठी करके पूरा ब्यौरा तैयार करता है और हमेशा Accounts में ही उलझा रहता है। लेखा–जोखा यहाँ तक रखता है कि इनसे सम्पर्क रखने से कितना फायदा होगा–कितना नुकसान होगा, कितना मिलेगा–कितना देना पड़ेगा–ये सारी बातें हमारा दिमाग सोचता है; और ऐसा मस्तिष्क लेकर हम गुरू के दरबार में भी चले जाते हैं, लेकिन यह साधारण मस्तिष्क गुरू के दरबार में चला भी जाए, तो वहाँ गुरू को थोड़े ही देख पाएगा। गुरू को तो वह तब ही देख पाएगा, जब वह मस्तिष्क को नीचे उतारेगा।

इसलिए 'अभिगम–विज्ञान' में वर्णन आता है कि गुरू के द्वार पर, उपासना–स्थल में जाओ तो अपने मस्तक को, अपने दिमाग को, अपनी खोपड़ी को बाहर छोड़कर आओ। अपने Attitude को बाहर छोड़कर आओ। तब भीतर आकर, फिर हृदय केन्द्र पर आओ। एक पल के लिए अर्जुन आया हृदय केन्द्र पर, और जैसे ही वह हृदय केन्द्र पर आया, श्रीकृष्ण चाहते ही थे कि इसे वह विराट स्वरूप दिखलाई दे। हृदय केन्द्र पर आते ही अर्जुन का चित्त श्रीकृष्ण की परिक्रमा करना शुरू हो गया। और तब, जैसे–जैसे शिष्य गुरू की परिक्रमा करता है, एक आश्चर्य घटता है। गुरू भी अपनी धुरी पर घूमना शुरू कर देता है। गुरू की चेतना भी अपनी धुरी पर तीव्र गति से घूमने लग जाती है। दो घूमती हुई चीज़ें ही एक–दूसरे में कुछ आदान–प्रदान कर सकती है। एक चीज़ स्थिर हो और दूसरी घूम रही हो, तो आदान–प्रदान नहीं होता, दोनों का गतिशील होना आवश्यक है। सूरज भी अपनी धुरी पर घूम रहा है, पृथ्वी भी

अपनी धुरी पर घूम रही है। सूरज भी परिक्रमा कर रहा है और पृथ्वी भी परिक्रमा कर रही है-इसी परिक्रमा के बीच सूरज पृथ्वी को ऊर्जा दे पाता है और पृथ्वी सूर्य से ले पाती है।दोनों घटनाएँ एक साथ घटित होती है।

शिष्य जब गुरू की परिक्रमा करता है, तब गुरू के भीतर भी एक गति होती है-ऐसा ही वह क्षण था, जब अर्जुन के चेहरे पर एक दिव्य आभा आई। अब वह एक साधारण व्यक्ति नहीं रहा, साधारण संसारी की भाँति नहीं रहा, जो तर्क-वितर्कों में उलझे। अब उसके भीतर एक असाधारण घटना घट गई। उसके नीच गौत्र कर्म का और अधिक क्षय हो जाता है और वह उच्च गौत्र को उपलब्ध हो जाता है। एक विशिष्ट अवस्था को उपलब्ध हो जाता है। अब वह विशेष लेश्यावलय में आ जाता है, जो उसे ब्रह्माण्ड का स्वरूप दिखला पाता है, इस संसार को देखने की क्षमता दे पाता है। उसे वह दृष्टि, दर्शन मिलता है लेकिन बिना गुरू-वन्दना के, बिना परिक्रमा किए गुरू से वह Vision, वह दर्शन कैसे मिलेगा... ? और.... गुरू क्या देता है-केवल दर्शन। इसलिए ही तो हम गुरू से दर्शन माँगते हैं....

गुरूदेव दर्शन दीजिए, गुरूदेव दर्शन दीजिए।।
तेरी शरण में ही मरूँ, तेरी शरण में ही जिऊँ
मोक्ष की गंगा मिले तो, कूप का जल क्यूँ पिऊँ।
मैं हूँ बड़ा चित्त भ्रम प्रभु, तुम ही चिकित्सा कीजिए
गुरूदेव दर्शन दीजिए, गुरूदेव दर्शन दीजिए।।

हम सब मरीज़ हैं और गुरू हमारे वैद्य हैं, डॉक्टर हैं; इसलिए हम कह रहे हैं कि 'मैं हूँ बड़ा चित्त भ्रम प्रभु, तुम ही चिकित्सा कीजिए, गुरूदेव दर्शन दीजिए।' यहाँ 'दर्शन' का मतलब देह के दर्शन से नहीं है, दर्शन का मतलब है-आत्मदर्शन। वह दृष्टि प्रदान करो कि मैं स्वयं सत्य का वेदन कर सकूँ। वह दृष्टि, वह दर्शन प्राप्त करने के लिए, उस level (स्तर) पर जाने के लिए शिष्य गुरू की परिक्रमा करता है। जैसे ही वह परिक्रमा करता है, उसे उच्च गौत्र की उपलब्धि होती है, विशिष्ट लेश्यावलय की उपलब्धि होती है। वह जब गुरू के विशिष्ट लेश्यावलय के समीप आता है तो साधारण व्यक्तियों की तरह राग-द्वेष, लड़ाई-झगड़ा, क्रोध-अभिमान उसमें से शनैः-शनैः दूर होता जाता है। वह इन सबसे मुक्त होता चला जाता है। अब वह नहीं सोचता-कि ईंट का ज़वाब पत्थर से दो, फलाँ को मारो-पीटो, उसे सबक सिखाओ, षड्यंत्र

रचाओ-ये सारी नीच गौत्र की बातें, अशुभ लेश्या वाली वृत्तियाँ, अप्रशस्त ध्यान उसके अन्दर से निकल जाता है, दूर हो जाता है।

अगर आपने गुरू की उपासना की है, गुरू की वन्दना की है, गुरू की परिक्रमा की है, तो इस तरह की विचारधारा आपके अन्दर नहीं टिक सकती। पुराने ज़माने में 'वर्ण-विज्ञान' इसे ही कहा जाता था। क्षत्रिय-ब्राह्मण-वैश्य-शुद्र-ये जो चार प्रकार की वर्ण व्यवस्था की गई थी, उसका कारण यही रहा। वर्ण शब्द का एक अर्थ होता है रंग। ये जो चार वर्णों का अलग-अलग विभाजन किया गया, वह चमड़ी के रंग की वजह से नहीं हुआ। व्यक्ति के भीतर के भावों और विचारों के अनुसार उसके आस-पास जो रंगों का वलय निर्मित होता है, उसके आधार पर चार प्रकार के वर्णों की व्यवस्था दी गई। चार प्रकार के Magnetic Field विशेष रूप से निर्धारित किए गए, जिनसे व्यक्ति की जाति और गौत्र तय किया जाता था। इन चारों वर्णों में कोई ऊँचा नहीं है, कोई नीचा नहीं है। कोई हीन अथवा विशिष्ट नहीं है।

समण प्रभु महावीर ने चारों ही वर्णों को समानता का दर्ज़ा दिया। उन्होंने जन्म के आधार पर जाति को प्रमुखता नहीं दी। प्रभु महावीर के अनुसार जन्म से कोई ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य या शुद्र नहीं होता है, वरन् अपने-अपने कर्मों के अनुसार होता है। किन्तु वैदिक ब्राह्मण संस्कृति ऐसा नहीं मानती थी। उनके अनुसार जो ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए, वे ब्राह्मण हैं, इसलिए ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं। जो ब्रह्माजी की भुजाओं से पैदा हुए हैं, वे क्षत्रिय हैं। ब्रह्मा के पेट से पैदा होने वाले वैश्य एवं पैरों से पैदा होने वाले शूद्र हैं। उनके अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय श्रेष्ठ हैं, उच्चकुलीन हैं; वैश्य मध्यम व शूद्र हीन हैं।

यह भी बात कहने का एक पौराणिक अंदाज़ मात्र था, लेकिन अन्य बातों की तरह इसे भी रूढ़ अर्थों में ही समझा गया। हकीकत में वे कहना यह चाहते थे कि जो भुजा की तरह बलशाली व रक्षक होंगे, वे क्षत्रिय। जो मुख से सरस्वती का, विद्या का दान किया करेंगे, वे ब्राह्मण। जो इंसानों के पेट का भरण-पोषण करने का काम करेंगे, वे वैश्य और जो जीवन को कर्मशील कलामय, स्वच्छतामय बनाए रखेंगे, वे क्षुद्र होंगे। किन्तु कालान्तर में ये चारों वर्ण जन्मगत बन गए। सामाजिक व्यवस्था के ढाँचे में ऊँच-नीच के रूप में स्वीकृत हो गए। शूद्रों को इतना हीन माना गया कि उनके हाथ से छुई गई वस्तु भी अपवित्र समझी जाती थी। ब्राह्मणों ने स्वयं को उच्च, कुलीन और श्रेष्ठ

करार दिया। जातिगत भेदभाव इस उत्कर्ष तक पहुँच गया कि सबमें समभाव रखने वाले समण भी इस सोच से अप्रभावित न रहे। कई जैन समण भी यह सोच रखने लगे कि वे नीची जाति वालों के हाथ से भिक्षा ग्रहण नहीं करेंगे। यद्यपि उनकी यह धारणा समण दर्शन के अनुरूप नहीं है, क्योंकि समण दर्शन के अनुसार सिर्फ ब्राह्मण या क्षत्रिय कुल में जन्म लेने मात्र से कोई व्यक्ति उच्च गौत्रीय नहीं हो जाता और वैश्य या शूद्र कुल में उत्पन्न होने से कोई नीच गौत्र वाला नहीं हो जाता है। उच्च वाणी, संस्कार व उदारता आदि गुण गौत्र की विशिष्टता है।

सामाजिक व्यवस्थाएँ समय-समय पर बदलती रहती है। कल तक जिस शूद्र जाति को नीच गौत्रीय समझा जाता रहा और जिनके साथ छुआछूत वाला व्यवहार किया जाता रहा, आज के समय में वे उच्च सरकारी पदों पर कार्यरत हैं और कई तो आरक्षण आदि सरकारी नीतियों के तहत अनेकों सुविधाओं को सहज प्राप्त कर चुके हैं। ऐसे में स्वयं को श्रेष्ठ और उच्चकुलीन मानने वाले लोगों को भी उनके साथ या उनसे निम्न पदों पर कार्यरत होना पड़ता है, उनके सामने सिर भी झुकाना पड़ता है। अतः उच्च गौत्र और नीच गौत्र का अर्थ उच्च जाति या कुल अथवा नीच जाति या कुल में उत्पन्न होना मात्र नहीं है, जैसा कि आज तक हम लोग मानते आ रहे हैं।

सामाजिक सभ्यता में जातिगत व्यवस्थाएँ समय-समय पर बदलती रही है। किसी समय की उच्च और श्रेष्ठ कही जाने वाली जातियाँ किसी समय हीन और नीची कही जाने लगती है। समण भगवान महावीर ने कभी कहा ही नहीं कि तुम ओसवाल जाति में पैदा हुए हो इसलिए महान हो जाओगे और किसी अन्य जाति में पैदा हो गए तो हीन हो जाओगे, नीचे हो जाओगे। हालाँकि हम लोग ऐसा ही समझते हैं क्योंकि सभी को यही सिखाया जाता है कि तुम जिस जाति व कुल में पैदा हुए हो, वह महान है, श्रेष्ठतम है। किन्तु महावीर वाणी कहती है कि 'व्यक्ति जन्म से नहीं, कर्म से महान होता है।' अतः हमें अपनी जाति और कुल का अहंकार कदापि नहीं करना चाहिए।

आज स्वयं को उच्च गौत्रीय मानने वाले कितने ही लोग मद्य-माँस, व्यभिचार, चोरी-जुआ, लड़ाई-झगड़ा आदि सभी प्रकार की बुराईयों में लिप्त पाए जाते हैं। अगर कोई वास्तव में ही उच्च गौत्रीय हो तो क्या वहाँ भाई-भाई को आपस में लड़ना चाहिए, लेकिन आज ज़रा हम अपने समाज पर

दृष्टिपात करें कि हम जैन कहलाने वाले, स्वयं को उच्च गौत्रीय कहने वाले लोगों का अपने ही जाति भाईयों के साथ वाद-विवाद चल रहा है। परस्पर राग-द्वेष पल रहा है।कोर्ट-केस चल रहा है।एक-दूसरे की टाँग-खिंचाई चल रही है। एक-दूसरे को आगे बढ़ने में कोई मदद ही नहीं कर रहा है। हमें तो छोड़िए, कई गाँवों में लुहार आदि जातियों में यह व्यवस्था मिलती है कि गाँव का हर व्यक्ति अपने जाति भाई को आर्थिक मदद देकर भी काम लगवाता है। अपनी जाति और कुल के विकास के लिए संगठित होकर बड़े-बड़े काम कर लेता है।वहाँ सब एक-दूसरे के सुख-दुःख का ख्याल रख लेते हैं।किन्तु हमारे यहाँ दुर्लभ हो चला है प्रेम, संगठन... ? कोई भी संस्था आसानी से चल नहीं पाती है, रोज़ के नए कलह, नए मुद्दे उठते रहते हैं।सभी एक-दूसरे को नीचा दिखाने और स्वयं को सही प्रमाणित करने का प्रयास करते रहते हैं।

इसलिए उच्च गौत्र और नीच गौत्र का सम्बन्ध ऊँची और नीची जाति से न होकर हमारे विचारों, भावों व वाणी के अनुसार निर्मित हुए लेश्या वलय (Electromagnetic Field) से है। आत्मज्ञानी पूज्य श्री विराट गुरूजी कहा करते कि 'हमारे परस्पर संबंध हमारे मेग्नेटिक फील्ड (Magnetic Field) के आधार पर निर्मित्त होते हैं। जिस व्यक्ति के भाव शुभ और पवित्र होते हैं, जिसका हृदय उदार, प्रेमी और सद्भावों से भरपूर होता है, उसका लेश्या वलय शुभ होता है। अक्सर वह अपने ही समान भावों वाले, पवित्र लेश्या वलय (Magnetic Field) वालों के साथ सम्बन्धित होता है। हमारा Magnetic Field ही परस्पर एक-दूसरे से आकर्षित (Attract) अथवा विकर्षित (Repel) होता है। इसलिए अगर व्यक्ति को बदलना है, तो उसे अपने Magnetic Field को बदलना होगा, लेश्या वलय को परिवर्तित करना होगा।

अगर आप अच्छी सोच वाले हो तो आपकी संगति भी अच्छी सोच वालों के साथ होगी।आप जहाँ भी जाओगे, अपने आप ही गुणवानों के पास बैठोगे, दुर्गुणी एवं आवारा लोगों के पास नहीं बैठोगे।अगर हमारी सोच अच्छी नहीं है, हमारा magnetic field अच्छा नहीं है तो हम automatically निम्नस्तरीय लोगों में, निम्नस्तरीय बातों में रस लेना शुरू कर देंगे। आदमी किसमें interest ले रहा है, उससे भी पता लग सकता है कि आदमी का magnetic field कैसा है ?

पुराने ज़माने में कुछ लोग देखकर ही पहचान जाते थे कि किसका

magnetic field कैसा है ? कहा जाता है कि यह भी एक कारण रहा समण प्रभु महावीर को तीर्थंकर के रूप में पहचाने जाने का...। अन्यथा उस समय स्वयं को तीर्थंकर घोषित करने वाले छः व्यक्ति थे, जिनमें से प्रत्येक नए धर्म का प्रवर्तन करने वाला था और अनेकों शिष्यों और अनुयायियों द्वारा सम्मानित व पूजित था। वे छः व्यक्ति तीर्थंकर पद के दावेदार थे-अजित केशकंबल कहता था 'मैं तीर्थंकर हूँ', प्रबुद्ध कात्यायन कहता 'मैं तीर्थंकर', संजय वेलट्ठिपुत्त कहता 'मैं तीर्थंकर', मंखली पुत्र गोशालक, गौतम बुद्ध और समण महावीर-ये सभी अपनी-अपनी परम्परा के संवाहक थे। तब गाँवभर में इस तरह की चर्चा हुआ करती कि आज हमारे यहाँ अमुक तीर्थंकर भी आ रहे हैं और दूसरे अमुक तीर्थंकर भी आ रहे हैं। लोग एक-दूसरे से पूछते हैं कि तुम कौनसे तीर्थंकर को मानते हो, हम फलाँ तीर्थंकर को मानते हैं, इनमें सच्चा तीर्थंकर कौन है...। लोगों में इस तरह के प्रश्न सदा ही मौजूद रहते कि सच्चा तीर्थंकर, सच्चा गुरू कौन है-हमें कैसे पता चले ? इस भ्रमणा के चलते कई स्वयं को 'मैं सच्चा तीर्थंकर हूँ'-इस तरह प्रमाणित करने का प्रयास भी करते।

एक सत्य-तथ्य यह है कि जो स्वयं को प्रमाणित (prove) करने की कोशिश करता है, वह निश्चय में उससे उल्टा होता है। आप्तज्ञानी पूज्य श्री विराट गुरूजी द्वारा बताए गए 'दस तथ्य' (ten facts) में एक तथ्य (fact) यह है कि ''प्रमाणित करने का प्रयास आंतरिक विपरीतता का संकेत होता है।'' जिसके भीतर में कमज़ोरियाँ है, वही अपने आप को प्रमाणित करने की चेष्टा करता है। जिसमें कमज़ोरियाँ नहीं है, वह स्वयं को प्रमाणित करने की चेष्टा कभी नहीं करता।

कुछ लोग थे, उस युग में जो आभावलय (लेश्या) को देख पाते थे। आज भी है, हर युग में रहते हैं। उन्होंने समण महावीर के चारों ओर के शुक्ल लेश्यावलय को पहचाना, और तब वे महावीर के चरणों में झुक गए। आभावलय (लेश्या) को देखकर किसी इंसान की पहचान की जाती थी। गुरू भी शिष्य की लेश्या को देखकर पहचान जाते थे कि शिष्य अभी कैसी भावधारा में चल रहा है ? कौनसी लेश्या है ? साधना कहाँ तक पहुँच रही है ? यह अपनी साधना यात्रा में आगे गति कर रहा है या अवनति कर रहा है-यह सब गुरू अपनी दृष्टिमात्र से जान जाते हैं। तब गुरू शिष्य की साधना में सुधार करने के लिए उसे निर्देशित कर देते।

हमारा लेश्यावलय (Electro Magnetic Field) यह बताता है कि हमारा गौत्र कौनसा है...। हम उच्चगौत्रीय हैं या नीच गौत्रीय हैं। लेकिन साधारणतया आम इंसान किसी के लेश्या वलय को नहीं पहचान सकता है, इसलिए उच्च गौत्र और नीच गौत्र की पहचान वह व्यक्ति के जाति और कुल से करता है। जैसा हमारा लेश्यावलय (Magnetic Field) होता है, हम वैसे ही घर-परिवार, कुल-खानदान में पैदा होते हैं। कई बार लोग यह प्रश्न करते हैं कि हमें ऐसे माँ-बाप क्यों मिले, ऐसे रिश्तेदार क्यों मिले, ऐसा जीवनसाथी क्यों मिला, ऐसी ससुराल क्यों मिली....इत्यादि। तब पूज्य विराट गुरूदेव उन्हें जवाब देते कि तुम्हारा Magnetic Field इनके Magnetic Field से match करता था; इसलिए तुम इस घर में और ऐसे माँ-पिता के यहाँ पैदा हुए हो। इस ब्रह्माण्ड (universe) का यह नियम है कि समानवर्ती भाव समानवर्ती भावों को आकर्षित करते हैं।(Like attracts Like.)

यदि हमारा आभामण्डल (लेश्या, Magnetic Field) काले रंग का है, तो बहुत संभव है कि हमें काले अथवा नीले रंग के आभावलय वाले लोग ही अच्छे लगें। हम काले मेग्नेटिक फील्ड वाले लोगों की तरफ अधिक आकर्षित होंगे, उनके पास जाएँगे, दोस्ती करेंगे, उनके साथ हम संबंध जोड़ेंगे। अगर किसी का आभावलय लाल, पीला, गुलाबी, नीला या केसरिया रंग का है, तो उन्हें अपने सरीखे आभावलय वाले लोगों के प्रति आकर्षण पैदा होगा। आत्मज्ञानी पूज्य श्री विराट गुरूजी के उद्‌गार हैं-

पानी पानी में मिलता है, अनल अनल के संग।
अनिल अनिल को ढूँढ ही लेता, भाव भाव के ढंग।।
हर ध्वनि टकरा वापिस आती, खुद के कानों पर करती जंग।
निज भाव फल ही निज को मिले........
भैया! क्यों दे हम दूसरों को दोष, निज भाव फल ही निज को मिले।।

अक्सर जो लोग 'ज्ञान' और ज्ञानी के प्रति आकर्षित होते हैं और ज्ञान की उपासना के लिए समर्पित होते हैं, वे पीत लेश्या वाले होते हैं। उनके भीतर के भावों से निर्मित होने वाले आभावलय (Magnetic Field) का रंग पीला केसरिया या रक्ताभा लिए होता है। तो, आभावलय (लेश्या) को देखकर पता लग जाता है कि इसके भीतर की भावधारा कैसी है ? संसार में हमारे सारे संबंध इसी आधार पर बनते हैं। समान आभावलय वाले परस्पर एक-दूसरे के

प्रति आकर्षित होकर सम्बन्धित हो जाते हैं। विपरीत से भी आकर्षण-विकर्षण का संबंध जारी रहता है।

हमें इस संसार में रहते हुए स्वयं को उच्च गौत्रीय बनाना आवश्यक है, अपनी लेश्या को पवित्र व शुभ बनाना आवश्यक है; तभी हम इस संसार में परस्पर होने वाले वार-प्रतिवार से, आघात-प्रत्याघात से, और शुद्र वातावरण से परे हट सकेंगे। अन्यथा हम इसी में लिप्त बने रहेंगे, और यदि ये ही हमें आकर्षित करते रहे तो हम इस दलदल से कभी बाहर नहीं निकल पाएँगे। इसलिए हमें अपनी भावधारा को बदलना है, शुभ बनाना है।

अपने भावों को पवित्र और शुभ बनाने का सबसे सुन्दर एवं सरल उपाय है-'गुरूदेव को परिक्रमापूर्वक वन्दन करना।' गुरूवन्दन से हमारी लेश्या बदलती जाएगी। हमारे अन्दर रही बुरी लेश्याएँ-काली, नीली, कापोत लेश्या क्षीण होती जाएगी और तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या आती जाएगी। वीर वाणी के अनुसार तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या धर्म लेश्या है और कृष्ण, नील और कापोत-ये तीनों अधर्म लेश्या है। अधर्म लेश्या अधर्म में गति करवाती है और धर्म लेश्याएँ धर्म में।

जो व्यक्ति भावपूर्वक भक्ति से सद्गुरू के गुणों की, अपने इष्ट की परिक्रमा करता है; उसके भीतर सबसे पहले परिवर्तन घटित होता है-'लेश्या' का। उसकी लेश्या शुभ होती है, फिर उसका व्यक्तित्व ही परिवर्तित हो जाता है। उसके आन्तरिक जगत में परिवर्तन घटने से सामाजिक व्यवस्थाएँ भी बदलती है। वह कैसे बदलती है-इसका वर्णन हम आगे सुनेंगे.....।

ॐ शान्ति! ॐ शान्ति! ॐ शान्ति!!

सुधरे जीवन

किरपा बरसे जो गुरू देव की, सुधरे जीवन,
आज सुधरे जीवन।
दीन दुखियों को हज़ारों को, गुरू पार करे,
नाव अपनी भी फँसी बीच भँवर, सुधरे जीवन।
आज सुधरे जीवन।। स्थाई।।

क्रोध रूकता ही नहीं, मान झुकता ही नहीं,
माया हर भाव रही, लोभ का थोब नहीं।
तप कर पाता नहीं, जड़ से गौरव का गलन,
कैसे सुधरे जीवन।।1।। किरपा बरसे जो.....

आप गौरव से रहित, ज्ञान गंगा के सहित,
वीर्य जो 'विराट' पुनीत, कर लो चेले का भी हित।
शान्ति की चरम सुधा, मेट दो कर्म कलन,
और सुधरे जीवन।।2।। किरपा बरसे जो.....

मार्ग में मार्ग रहा, लक्ष्य से भटक बहा,
अब गुरू जाऊँ कहाँ, आ गया शरण यहाँ।
मुक्ति का मार्ग दिखा दो, कि न हो और पतन,
आज सुधरे जीवन।।3।। किरपा बरसे जो.....

वंदन से कटते भव बंधन

तिन्नाणं तारयाणं वीतराग परमात्मा, बोधिप्रदाता सत्गुरूदेव एवं आगमवाणी को भाव-वन्दन। उपस्थित भव्य आत्माओं की भव्यता को प्रणाम।

गुरु को वन्दन करता हुआ शिष्य अपने भावों का,अपनी भक्ति का, अपने सम्पूर्ण अस्तित्व का समर्पण गुरु के समक्ष करता है। हकीकत में, यह समर्पण वह करता नहीं है, हो जाता है। जैसे प्यार किया नहीं जाता, हो जाता है, वैसे ही समर्पण भी दिव्य प्रेम है। गुरूमय होना है। हर इंसान के भीतर बहुत-सी भावनाएँ होती है, व्यक्ति स्वभावतः किसी की भक्ति करना चाहता है, उपासना करना चाहता है-स्वभावतः करना चाहता है-क्योंकि उसे प्रतीत होता है कि मैं जैसा हूँ, वैसा अपूर्ण हूँ। मैं जैसा हूँ, वैसा अशुद्ध हूँ। मैं जैसा हूँ, वैसा निर्बल हूँ- इसीलिए वह किसी बलवान की, शक्तिसम्पन्न की, वैभवसम्पन्न की, ज्ञानसंपन्न की अपने हृदय से उपासना करना चाहता है क्योंकि वह देखता है कि इनके पास ज्ञान है, वैभव है, दर्शन है, चरित्र है, शक्ति है... क्यों ना ये गुण मुझ में भी आ जाए! क्यों ना मैं भी इनकी तरह मस्त रहना सीख सकूँ। क्यों ना मैं भी इनकी तरह अपना मालिक बन सकूँ! मैं क्यों कमज़ोर रहूँ? यही कारण है कि वह उपासना करता है, यह बात अलग है कि वह उपासना किसकी करता है। लेकिन हर इंसान किसी-न-किसी की उपासना तो करता ही है।

स्वभावतः वह अपनी भक्ति का, अपने भावों का समर्पण किसी-न-किसी के समक्ष तो करता ही है-चाहे काली माँ को करे, चाहे लक्ष्मी देवी को करे, या सरस्वती देवी को करे, कोई मस्जिद में जाकर करे या कोई गुरुद्वारे में बैठकर करे या फिर किसी मन्दिर में प्रतिमा जी के सामने बैठकर करे। चाहे कोई साक्षात् निर्ग्रन्थ अणगार के समीप जा कर उपासना करे, चाहे कोई अरहन्त की उपासना करे-उपासना तो हर कोई किसी-न-किसी की कर ही रहा है। फिर वो ईश्वर की हो या GOD की हो। कहीं भी करे-किसी के भी समक्ष करे लेकिन हर मनुष्य कहीं-न-कहीं अपनी आस्था का समर्पण करता

ही है, कहीं-न-कहीं बैठकर भक्ति करता ही है। किसी-न-किसी को भक्ति का प्रतीक बनाता ही है, जहाँ जा कर उस प्रतीक के समक्ष वह अपनी भक्ति-भावों के पुष्प चढ़ा सके, पुष्प अर्पण कर सके।

हर मनुष्य उपासना करता है..., और जो जिसकी उपासना करता है, वो वैसी ही उपलब्धि भी प्राप्त करता है। जो काली माँ की उपासना कर रहा है, वह शक्ति प्राप्त करता है, हो सकता है सैन्य बल प्राप्त करे, हो सकता है युद्ध करने की क्षमता प्राप्त करे। जो सरस्वती की उपासना कर रहा है, हो सकता है वह विद्याएँ प्राप्त करे, विद्याधर बन जाए, बहुत सारी चमत्कारिक विद्याएँ उसमें आ जाए, उसकी वाणी में बहुत सारा ज्ञान आ जाए। बहुत सम्भव है, कि जो लक्ष्मी की उपासना कर रहे हैं, वे धन-वैभव प्राप्त करें। चाहे इस जन्म में करे, चाहे कालान्तर में करे। जो भी व्यक्ति जिन भावों से, जिन संकल्पों से जिसकी भी उपासना करता है, वह भाव उसे लौट कर मिलता ही है। उपासना करने वाला अपने भावों को ही वापस प्राप्त करता है। इसीलिए तो कहा जाता है कि

''राम झरोखे बैठकर सबका मुजरा लेय।
जैसी जिसकी भावना, वैसा ही फल देय।

राम तो झरोखे में बैठा है, वह कुछ नहीं कर रहा। वह तो सबका मुजरा ले रहा है। मुजरा कहते हैं-नमस्कार को, प्रणाम करने को। वो सबका मुजरा ले रहा है, सबकी कलाएँ ले रहा है, सबकी अदाएँ ले रहा है, सबके भावों को ले रहा है लेकिन बैठा अपने झरोखे में है। वो खुद कुछ भी नहीं कर रहा। 'जैसी जिसकी भावना, वैसा ही फल देय' यानि जिसकी जैसी भावना है, उसको वैसा ही फल प्राप्त हो रहा है। राम कुछ कर नहीं रहा है, राम देख रहा है। यह आत्मा भी कुछ कर नहीं रहा है। आत्मा स्वभावतः करने वाली है ही नहीं। आत्मा का स्वभाव कुछ करना नहीं है, आत्मा का स्वभाव देखना है। वह सब कुछ देख रहा है, सब कुछ जान रहा है। जब जिसकी जैसी भावना होती है, उसको वही भावना Reflect होकर वापिस मिलती है। वह भावना ही फलीभूत हो रही है।

जो लक्ष्मी की उपासना कर रहा है, वह वैभव को प्राप्त कर रहा है। जो किसी धनवान की तारीफ कर रहा है, धनवान के गुण गा रहा है, उसके धन

कमाने की कला पर फिदा है, वह भी एक दिन धनवान हो जाएगा। होगा ही वह धनवान, क्योंकि उसने उनके गुण देखे हैं, गुणों की तारीफ की है।

इसी प्रकार, जो गुरू के समक्ष बैठा है, गुरू के ज्ञान गुण की तारीफ कर रहा है, गुरू के निष्पक्ष दर्शन की तारीफ कर रहा है, अनुमोदना कर रहा है, भक्ति कर रहा है-वह गुरू के उन गुणों को प्राप्त कर लेगा। जो अरहन्त की उपासना कर रहा है, जो योग्यता की उपासना कर रहा है, पूजनीयता की उपासना कर रहा है, वह एक दिन अरहन्त हो ही जाएगा। वह योग्य होकर ही रहेगा क्योंकि उसने योग्यता को ध्याया है। किन्तु अगर किसी ने शत्रुहन्ता को ध्याया-'अरि' यानि शत्रु, और 'हन्ता' यानि मारने वाला-शत्रुओं को मारने वाले को नमस्कार; तो वह भी एक दिन ऐसा ही हो जाएगा, जिसकी ज़िन्दगी में शत्रु होंगे, वह शत्रुओं के साथ युद्ध करेगा और युद्ध में जीत जाएगा।

बहुत ही logical है, यह धर्म। यहाँ कोई किसी पर न दया करता है, न ही कोई किसी के साथ अन्याय करता है। यह प्रकृति, यह ब्रह्माण्ड पूरा-का-पूरा बहुत सुव्यवस्थित है। Everything is in ORDER in this Universe. एक ही नियम काम कर रहा है यहाँ, कि 'जैसी आप भावना करोगे, वही भावना आपको फलित होगी। जैसी जिसकी भावना, वैसा ही फल देय।' You become, As you FEEL. जैसी भावना है, वैसा फल प्राप्त हो रहा है।

कोई साधु के पास जा कर भी निन्दा, चुगली जैसी आशातनाएँ कर रहा है, blame game खेल रहा है, आरोपण-प्रत्यारोपण कर रहा है; तो वह भी वही फल प्राप्त करेगा। उसके साथ वापस वही सब कुछ होने वाला है। श्रीपाल, मैनासुन्दरी की घटना उनका रास, उनका जीवन चरित्र सब को पता है, राजा श्रेणिक की घटना सबको पता है-जिसने जैसा साधु के साथ किया, वैसा ही उनके साथ हुआ। सीता की कहानी सबको पता है-पूर्व जन्म में क्या किया उसने? बस, उसी का फल इस जन्म में प्राप्त किया। जिसकी जैसी भावना है, उसको वैसा फल मिल रहा है। फल कोई नहीं देता, फल अपनी भावना स्वतः देती है। कोई देने वाला नहीं बैठा है उधर।

शिष्य जब गुरू की भक्ति कर रहा है-कुछ पाने के लिए नहीं कर रहा वैसे ही कर रहा है, कुछ लेने के लिए नहीं आया है, बस आया है। वह यह भी

नहीं सोच रहा कि 'मैं खाली हूँ, मुझे कुछ मिले।' 'खाली घड़ा हूँ मुझे भर दो।' वह ऐसा भी नहीं सोच रहा...'खाली झोली फैलाए हुए हूँ, मेरी झोली भर दो'-ऐसी भी कामना नहीं कर रहा। बिना किसी कामना के मात्र सेवा-भक्ति कर रहा है, उपासना कर रहा है, समर्पण कर रहा है, वन्दना कर रहा है तो उसके भीतर Automatic रूपान्तरण घटित होता है।

सुदामा ने कुछ माँगा थोड़े ही था कृष्ण से, उसने तो केवल अपने चावल ही भेंट किए थे, कुछ माँगा नहीं था, तो उसे सब कुछ मिल गया। अगर माँग लिया होता तो... ? माँग लिया होता...तो माँगा हुआ ही मिलता, और वो भी टिकता या नहीं-कौन जाने ? इसीलिए माँगने की आवश्यकता ही कहाँ है। यह भी कहने की कहाँ आवश्यकता है कि 'गुरू मेरी झोली भर दो।' यह भी कहने की कहाँ आवश्यकता है कि 'मुझे आशीर्वाद दे दो' या मेरे संकट दूर कर लो।

हम लोग जब भी भजन गाते हैं, जब भी गुरू की वन्दना करते हैं, स्तुति गाते हैं तो इस तरह की बातें कहते हैं कि 'मेरी झोली भर दो...., खाली घड़ा हूँ..., भर दो.., दामन फैला रखा है...., याचक आया है तेरे द्वार पर...., एक भिखारी आया है'-क्यों भिखारी बनते हो ? गुरू ने तो नहीं कहा, 'तुम भिखारी बनो।' भगवान ने तो नहीं कहा 'तुम भिखारी बनो।' क्यों मानते हो कि 'मैं भिखारी हूँ।' और हो सकता है, तुम ऐसा मानते भी नहीं हो, खाली गुरू के सामने उनकी बंदगी करने के लिए, उनको बहलाने के लिए झूठ बोल रहे हो कि 'गुरू महाराज! मैं तो भिखारी हूँ...।' अगर हकीकत में अपने आप को भिखारी मानते हो, और गुरू के दरवाज़े के बाहर ही कोई कह दे, 'ऐ भिखारी! सुनना ज़रा।' फिर देखो, क्या हालत करोगे, आप उस आदमी की। अब भले लाख बार वो कहे, 'भईया! मैं झूठ थोड़े ही बोल रहा हूँ। दो मिनट पहले आप ही तो बोल रहे थे मन्दिर में खड़े-खड़े कि मैं भिखारी हूँ। जब आप खुद ही वहाँ खड़े बोल रहे थे तो मैं भी वही बात तो कह रहा हूँ। झूठ थोड़े ही बोल रहा हूँ। आपके वचन ही आपके सामने कह रहा हूँ।' लेकिन नहीं! हम तो उस आदमी का वो हश्र करेंगे, वो हाल करेंगे कि शायद वह दुबारा सामने भी नहीं देखे।

वास्तव में हम झूठ बोल रहे होते हैं। जो शब्द हम गुरु के दरवाज़े के बाहर नहीं स्वीकार कर सकेंगे स्वयं के लिए, वैसा हम कहें ही क्यों ? नहीं माँगता है शिष्य, यह भी नहीं कहता कि मुझे स्वर्ग दो, मुझे मोक्ष दो, वो दो, ये दो, कुछ नहीं माँग रहा। बस वह तो यह Feel कर रहा है कि मुझे तो सब कुछ

मिला हुआ है। वो तो यह महसूस कर रहा है कि आशीर्वाद तो मुझे मिला ही हुआ है, वह नहीं कह रहा कि मेरे संकट हरो। हम भजन गाते हैं तो कहते हैं, 'मेरे संकट दूर करो- मेटो-मेटो जी संकट हमारा...' वो तो यह भी नहीं कह रहा कि 'संकट हरो', वो क्या कह रहा है, उसके भाव कैसे हैं, आत्मज्ञानी विराट गुरूजी रचित भक्ति-गीतिका के बोलों के माध्यम से जानते हैं कि शिष्य गुरू को क्या भावांजलि दे रहा है-

''आशीष से तुम्हारी, दुःख दूर हो रहा है।
अन्तर् में सुख का सोता, भरपूर हो रहा है।।
जब भी जो भाव उठता, सिद्धि को चूमता ही
यश पा रही है मेरी, बुद्धि की न्यूनता भी
तेरा ही तेरा मुझमें, यह नूर हो रहा है....
अन्तर् में सुख का सोता, भरपूर हो रहा है।।''

उपासक भक्ति करते हुए कह ही नहीं रहा कि मुझे आशीर्वाद चाहिए। मुझे चाहिए कि आप मेरे दुःख दूर करो। वो तो कह रहा है-' आशीष से तुम्हारी दुःख दूर हो रहा है। अन्तर् में सुख का सोता भरपूर हो रहा है'-अहा! कैसी सोच है? बड़ी Positive Thinking, वो ऐसा नहीं कह रहा कि 'करो', वो तो हो रहा है, ऐसा Feel कर रहा है। वह महसूस कर रहा है कि 'जब भी मेरा जो भाव उठता है, वो भाव सिद्धि को चूमता है....।' भाव अपनी सिद्धि को प्राप्त करता ही है।

एक बार किसी I.A.S. अफसर ने पूज्य श्री विराट गुरूजी को प्रणाम करते हुए कहा कि 'बस गुरूजी! आपका आशीर्वाद चाहिए।' गुरूजी बोले, ''यह 'चाहिए' शब्द हटा दो भाई। आशीर्वाद-कृपा महसूस करने की चीज़ है, लेने या देने की नहीं। वो तो सदा है ही।'' फिर भी हम है कि अपेक्षाग्रस्त बने ही रहते हैं। हमारे भीतर ये सवाल भी उठ जाता है कि वंदना से क्या होता है? क्या वंदना गुरू के लिए है? नहीं! ये गुरू के लिए नहीं। शिष्य के स्वयं के लिए है। शिष्य पूछ रहा है-

वन्दणएणं भन्ते जीवे किं जणयइ?

वन्दणएणं णीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चागोयं कम्म णिबंधई।
सोहग्गं च णं अप्पडिहयं, आणाफलं णिवत्तेई।
दाहिणभावं च णं जणयइ।।

उत्तराध्यन सूत्र का उन्नतीसवाँ अध्याय कह रहा है कि 'सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं णिवत्तेई।' सौभाग्य और आज्ञा फल उसको प्राप्त हो जाता है, जो वन्दना करता है। सौभाग्य प्राप्त होता है उसको...। आप लोग भी किसी को आशीर्वाद देते होंगे- ''सौभाग्यवती भवः।'' है ना..., पहले यह आशीर्वाद बड़ा प्रचलित था, बड़े लोग बहुओं को, छोटों को, आशीर्वाद देते थे 'सौभाग्यवती भवः'। जनसाधारण में इसका यही अर्थ प्रचलित है कि 'सौभाग्यवती हो', यानि तेरा पति जीवित रहे, तू हमेशा ही सुहागिन रहे। साधारणतया यही अर्थ करते हैं ना हम...? भगवान महावीर भी यहाँ कह रहे हैं कि वन्दना करने से सौभाग्य प्राप्त होता है। अब यह तो बड़ी मुश्किल हो गई क्योंकि ऐसा आशीर्वाद तो केवल स्त्रियों को ही मिलता है। पुरूषों को तो मिलता ही नहीं है। पुरूषों को तो कोई ऐसा आशीर्वाद ही नहीं देता- सौभाग्यवती भवः। पुरूषों से कोई नहीं कहता कि 'तुम्हारी पत्नी जीवित रहे।' लेकिन यह अर्थ नहीं है-सौभाग्य का। सौभाग्य मतलब मात्र सुहाग नहीं है।

सौभाग्य का अर्थ है कि जब जिस चीज़ की आवश्यकता हो, वो चीज़ उस समय मिले। कई बार ऐसा होता है कि आपके पास बहुत धन होता है, सब साधन होते हैं; लेकिन जब घर में कोई काम पड़ता है-बेटी की शादी है अथवा कोई बीमार हो गया-उस दिन आपके पास पैसे नहीं होते। अब आप क्या कहलाओगे? पहले आपके पास बहुत पैसा था, लेकिन जैसे ही बेटी बड़ी हुई-आज पैसा नहीं है। कोई नया business शुरु करना है-तो आज पैसा नहीं है। जिस दिन घर में कोई विपत्ति आई,अचानक कोई संकट आ पड़ा-कोई बीमार हो गया, घर में कोई मृत्यु हो गई, किसी का ऑपरेशन करवाना पड़ा; किन्तु अब पैसा नहीं है पास में...। यह कहलाता है 'सौभाग्य का न होना।' जब भूख लगे, तब भोजन मिले-इसका नाम है सौभाग्य। जब भूख नहीं है, तब तक अगर भोजन नहीं है, तो हमें परवाह भी नहीं है। जब ज़रुरत हो, तब मिल जाए-यह है सौभाग्य। गर्मी में जब घर से बाहर निकले और सामने कोई ऑटो वाला खड़ा मिल जाए और कहे, 'बाबूजी! आ जाओ और बैठ जाओ'; इसको कहते

हैं सौभाग्य। मरुस्थल में खड़े हो, अचानक प्यास लगी; और जैसे ही प्यास लगी, मन में इच्छा उठी पानी पीने की-इतने में कोई कहे, 'भाई साहिब! पानी ले लो'-यह बड़ा सौभाग्य है। जब जिस चीज़ की ज़रुरत पड़े, वो चीज़ हमें मिले। बाकि Time जब ज़रुरत नहीं है, ना मिले। हमें क्या?

हम जब असमजंस में हो, किसी उलझन में हो; और उस time अचानक कोई किताब हमारे सामने आए, किताब का पेज खुले और जो उलझन हमारे दिमाग में है, उसी उलझन का जवाब उस किताब में लिखा हुआ मिल जाए-इसे कहते हैं सौभाग्य-कि वही question दिमाग में था, वही समस्या चल रही थी कि क्या करुँ, क्या न करुँ। किताब खोली और उसका Answer मिल गया। यह है सौभाग्य। गुरु के पास गए, कुछ भी नहीं बोला, कुछ भी नहीं पूछा, बस चुपचाप जा कर बैठे और गुरु ने सीधी वही पंक्ति कही, जिसकी मुझे अपने लिए आवश्यकता थी। वो पंक्ति मुझे मिल गई और मेरी समस्या दूर हो गई। यह है सौभाग्य।

वन्दना करने वाला सौभाग्य को प्राप्त होता है। सोचने से नहीं मिलता सौभाग्य, माँगने से नहीं मिलता सौभाग्य, चाहने से नहीं मिलता सौभाग्य; परन्तु अगर बिना शर्त का समर्पण हो, तो मिल जाता है सौभाग्य। बेशर्त समर्पण चाहिये-बेशर्त समर्पण हो। मैं यह करुँगा तो मुझे यह मिलेगा, ऐसा नहीं। बस जिस दिन यूँ ही, बिना किसी कारण के समर्पण हो रहा है, उस दिन सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। उस दिन के बाद वह शिष्य ज़िन्दगी में कभी दरिद्र नहीं रहता। कभी दरिद्र नहीं होता, वह अमीर है। गुरु का शिष्य सदैव अमीर है, चाहे उसके पास फूटी कौड़ी भी नहीं है, परन्तु गुरु का शिष्य कभी गरीब नहीं होता। उपासक कभी गरीब नहीं होता, फिर चाहे वह फकीर ही हो।

एक अद्‌भुत घटना है। एक फकीर एक बार बैठा था, अपनी झोपड़ी में। पास में बस एक कम्बल था, और कुछ भी नहीं था। राजा दर्शन करने के लिए आया फकीर के पास। फकीर की झोपड़ी और उसकी अवस्था को देखकर राजा ने फकीर से पूछा, 'क्या आपके पास कोई सामान नहीं?' राजा को बड़ी हैरानी हुई क्योंकि झोपड़ी पूरी खाली है। कोई सामान नहीं ऐसा कैसे? फकीर बोला, 'मेरे पास तो बहुत सामान है।' 'कहाँ है?' तो फकीर ने कहा कि 'मेरे पास तकिया है। मेरे पास रज़ाई है। मेरे पास दरी है। मेरे पास अधोवस्त्र है। मेरे पास उत्तरीय वस्त्र है।' तो राजा ने कहा, 'कहाँ है? एक वस्त्र भी नहीं दिख

रहा है यहाँ पर। यहाँ पर तो केवल एक कम्बल पड़ी दिख रही है। है कहाँ ये सब ?' फकीर बोला, 'ये कम्बल है ना! जब ज़रुरत होती है बिछौने की, इसको बिछा लेता हूँ। जब ज़रुरत होती है सिराहना बना लेता हूँ। जब ज़रुरत होती है, ओढ़ लेता हूँ। जब ज़रुरत होती है, पहन लेता हूँ। एक कम्बल है तो सब कुछ है ना।'

वो कह रहा है एक कम्बल है तो सब कुछ है, और हमारे पास सब कुछ है तब भी हम क्या कहते हैं-ये नहीं है, वो नहीं है। ऐसा नहीं है वैसा नहीं है। घर पूरा भरा पड़ा है तब भी हमारी सोच यही है, 'अभी तो है ही नहीं, अभी इस साईज़ का तो है ही नहीं। जब सर्दियाँ आएगी तब चाहिएगा, तब के लिए तो कुछ है ही नहीं। जब गर्मियाँ आएगी तब चाहिएगा, तब के लिए तो कुछ है ही नहीं। अब ये 'है नहीं' की सोच हमारे अंदर है, इसलिये 'है नहीं' ही बना रहता है। सोच में ही अभाव है, अतः अभाव ही बना रहता है। लेकिन गुरू भक्त की, उपासक की सोच में कोई अभाव नहीं है। वो तो कहता है 'जब भी जो भाव उठता, सिद्धि को चूमता ही।' मेरे भीतर जब भी भाव उठता है, वो सिद्धि को प्राप्त करता है। अगर कभी यूँ ही भाव उठे कि रसगुल्ला खाना है, तो अचानक कहीं से रसगुल्ला आ जाएगा और खाने को मिल जाएगा। उपासक उसको भी धन्यवाद दे कर खाएगा-'वाह गुरु देव! आपकी बड़ी कृपा,रसगुल्ला मिल गया।'-यह है वन्दना का फल।

वन्दना करने से सौभाग्य स्वतः प्राप्त होता है। 'आणाफलं णिवत्तेई' अर्थात् आज्ञा फल की प्राप्ति होती है। आज्ञा फल का मतलब यह है कि किसी को कुछ भी बात कहे तो उसकी बात मानी जाएगी। क्योंकि वह गुरू की बात मानता है, वह गुरू की बात काटता नहीं, तो उसकी बात भी कोई काटता नहीं। वो गुरु के संकेत को समझता है, गुरु के इंगित-आकार को समझता है, वो गुरु की आज्ञा में प्राणप्रण से समर्पित होता है; ऐसे व्यक्ति की आज्ञा कभी टलती नहीं। उसके पुत्र, उसकी सन्तान, उसका परिवार उसकी आज्ञा में चलता है, यहाँ तक की समाज भी उसकी सुनता है।

जो गुरु की आज्ञा में चलता है-आणाफलं णिवत्तेई-आज्ञा फल प्राप्त होता है। और हमारे यहाँ... हर घर में सबको यही Problem है कि सामने वाला हमारी सुनता ही नहीं। पत्नी कहती है, मैं दिन भर बोलती हूँ लेकिन पति के तो कान पर जूँ ही नहीं रेंगती, सुनते ही नहीं। माँ कहती है कि मैं इतना बोलती हूँ बेटे

को, तो भी उसे सुनाई ही नहीं पड़ता। मेरी बात नहीं मानता वह। हर संस्था का मालिक कह रहा है कि क्या करें? हमारी बात सुन नहीं रहा मैनेजर। कर्मचारी सुन नहीं रहा। मंत्री सुन नहीं रहा। ये नहीं सुन रहा, वो नहीं सुन रहा। सबको यही Problem है कि मेरी बात सुनी नहीं जा रही। मैं बोलता हूँ तो मेरी बात कट जाती है। मैं विधान लाता हूँ किन्तु उसे तुरन्त विरोध मिलता है। विपक्ष विरोध करता है। उड़ा दी जाती है धज्जियाँ और डस्टबिन में डाल दिया जाता है मेरे हर प्रस्ताव को।

अरे देवानुप्रियों! तुम्हारे प्रस्ताव डस्टबिन में क्यों डाले जा रहे है? क्यों कोई तुम्हारी बात सुनना पसन्द नहीं कर रहा? कारण खोजो। क्या कहीं हमारे भीतर अविनय है, अहंकार है, कूटनीति है, षड्यन्त्र के भाव हैं? तो ही ऐसा होगा कि हमारी बात लोग काटेंगे। यदि आप गुरु को पूर्ण समर्पण करो, आप गुरु की आज्ञा में समर्पित हो जाओ, आपकी बात Automatically चलेगी। फिर आपकी बात कोई नहीं काटेगा। धीरज रखना पड़ता है। लेकिन हम तो तुरन्त फल चाहते हैं कि 'आज मैंने गुरु की बात मानी, तो घर वालों ने मेरी बात क्यों नहीं मानी।' 'महाराज जी! आपने कहा था उपवास कर लो। मैंने तो कर लिया उपवास। मैंने अपने पति से कहा कि आप एक सामायिक कर लो। वो तो मुझसे लड़ पड़ा कि मुझे क्यों आकर उपदेश दे रही है। तु सुनकर आई है। तू पाल तेरे गुरू के उपदेश को।' तो बहन, आपने गलती कर दी। इधर तुम एक उपदेश सुन कर गए, सुनकर जाते ही तुमने दूसरों को उपदेश देना शुरु कर दिया। अब कहते हो मेरी बात तो कोई मानता ही नहीं, कोई सुनता ही नहीं है। तुम में धीरज ही नहीं है, कैसे सुनेगा कोई। तुम सुनो, तुम बदलो, चाहो मत; तो फल मिल जाएगा। चाहना शुरु कर दिया कि मैंने गुरु की आज्ञा मानी तो मेरी आज्ञा भी मेरा पति माने, यह तो मुश्किल हो जाएगी। वशीकरण थोड़े ही करना चाह रहे हैं यहाँ पर हम। मिलता है आज्ञा फल-आप की बात रखी जाएगी, मानी जाएगी, स्वीकार की जाएगी, लेकिन आप मत चाहो, आप अधीर मत बनो, आप आतुर मत बनो तो आणाफलं णिवत्तेइ अर्थात् आज्ञा फल मिलता है।

सूत्र पाठ आगे कहता है कि

दाहिण भावं च णं जणयइ

तब दाक्षिण्य भाव की प्राप्ति होती है उसको। जो गुरु को वन्दना कर रहा है, वह दक्षता को उपलब्ध हो जाता है। कार्य कुशलता को उपलब्ध होता

है। जब भी जो काम हाथ में लेता है, वह काम उसका कुशलतापूर्वक सम्पादित होता है। अक्सर कई लोगों को बहुत knowledge है, बड़ा ज्ञान है लेकिन जैसे ही कहीं बोलने के लिए खड़ा कर दो तो पैर काँपने लग जाते हैं, सारी बातें भूल जाते हैं, बोला ही नहीं जाता। अरे, क्या हो गया? तुम तो कह रहे थे,बड़ी ऊँची-ऊँची बातें हाँक रहे थे, जैसे ही तुम को स्टेज पर खड़ा किया, तुमसे बोला ही नहीं जा रहा। यूँ तो दूसरों को management की सलाह देते हो-ऐसा मैनेजमेन्ट होना चाहिए, वैसा होना चाहिए। जैसे ही तुमने अपनी फैक्ट्री खोली.. हड़ताल हो गई मज़दूरों की। क्या तुमको management करना नहीं आया। अब वो कहता है कि 'मैंने सब पढ़ रखा है। law पढ़ रखा है। सी. एस. का कोर्स कर रखा है। सी. ए. हूँ मैं।' किन्तु जब स्वयं काम करने बैठता है तो उसको कोई भी पसन्द नहीं करता। उसका काम खारिज कर दिया जाता है। कारण क्या? कारण यह है कि दक्षता नहीं है, कुशलता नहीं हैं, बातें खूब कर लेते हो किन्तु जैसे ही काम करने का मौका आता है, काम करने में हाथ-पैर फूल जाते हैं। ढीले पड़ जाते हैं, कुछ काम ही नहीं कर पाते।

लोगों की यह बड़ी दिक्कत है। कहते हैं, ड्राईविंग आती है, बड़ी अच्छी ड्राईविंग आती है और जैसे ही कार ड्राइव करने जाते हैं, एक्सिडेन्ट करके लौट आते हैं। फिर घर वाले मना कर देते हैं, 'बैठ जा।' क्यों ? क्योंकि दक्षता नहीं है। ज़िन्दगी के हर मोड़ पर कार्यों में दक्षता चाहिए-चाहे वो छोटा-सा कार्य हो अथवा बड़ा कार्य हो, कार्य करने में कुशलता हो। वह कुशलता कैसे आती है?

दाहिण भावं च णं जणयइ।

जो गुरु की भक्ति करता है, जो गुरू गुणों को ध्याता है, जो अर्हन्त की वन्दना करता है उसके भीतर ऑटोमेटिकली योग्यता आती है। उसे कुछ सोचना नहीं पड़ता-वो लिखने बैठेगा तो बहुत अच्छा लिखेगा। वो गाने लगेगा तो बहुत सुन्दर गाएगा, वो पढ़ने बैठेगा तो उसे पढ़ी हुई बात तुरन्त समझ में आनी शुरु हो जाएगी, जो पहले तक उसे समझ में नहीं आती थी। लेकिन गुरु को वन्दना करने के बाद वो बैठा है तो उसको समझ में आनी शुरु हो जाएगी। इसीलिए प्राचीन काल से यह नियम रहा, यह परम्परा रही, यह संस्कृति रही हमारी कि कुछ भी पाठ सीखना है तो गुरु को वन्दना करके, फिर पाठ ग्रहण करो। कुछ भी पाठ याद करना है तो गुरू को वन्दना करो, फिर याद करो।

तपस्या करनी है, गुरु को वन्दना करो, फिर प्रत्याख्यान ग्रहण करो।

अकारण नहीं है कुछ भी, सब के पीछे कारण है। घर से बाहर निकलना है, बड़ों के पैर छूकर निकलो। क्यों? आज की जैनरेशन कहेगी, क्या फर्क पड़ता है, क्यों छूएँ? Formality की क्या ज़रुरत है कि पैर छुएँ घर से बाहर निकलते वक्त। फालतू की Formality छोड़ो। पुराने लोगों की बातें हैं ये, आज के ज़माने में ये बातें कौन मानता है। आज की जेनरेशन यही तर्क देगी, यही दलीलें देंगी। लेकिन जब आप घर से बाहर निकलते हो और गुरु के पैर छूकर, बड़ों के पैर छू कर निकलते हो तो उनका आशीर्वाद, उनकी दुआयुक्त नज़र आपके काम में आने वाली रुकावटों को रोक देती है। आपको ऐसा आशीर्वाद दे देती है कि रुकावटें आ भी जाए तो तू दक्ष बन कर निकल जाना, तू कुशल बनना, तू योग्य हो जाना। रुकावटें तुझसे छोटी हो, तेरी 'हाईट' लम्बी हो-और हमें क्या चाहिये?

ज़िन्दगी में बाधा न आए, यह possible नहीं है। लेकिन बाधाओं की ऊँचाई हमसे कम हो। हमारा क़द उनसे ज्यादा हो; तो हम बाधाओं से प्रभावित नहीं होंगे। और यदि बाधाओं का क़द हमारी क्षमताओं से, हमारे आत्मविश्वास से ज्यादा है, बाधाओं का वज़न हमसे ज्यादा है, हम उनके नीचे दब गए, उस दिन मरेंगे ना। लेकिन जो गुरु को वन्दना कर रहा है, उसका क़द बढ़ जाता है। बाधाएँ उसके सामने छोटी होती है। परिस्थितियों की प्रतिकूलताएँ उसके सामने भी हो सकती है, लेकिन गौण होती है। वह उन सबसे ऊपर उठ जाता है-यह फर्क पड़ जाएगा। ना करो वन्दना तब भी बाधा आती; वन्दना कर लो, हो सकता है, उसके बाद भी बाधा आए लेकिन अब बाधा बड़ी नहीं, अब आप उस बाधा से बड़े हो। अब आप कुशल हो, आप योग्य हो। बाधाएँ आपको जगाने के लिए आ रही है, आपके सोए हुए पौरुष को जगाने के लिए आ रही है। वे बाधाएँ आपको रोकने के लिए नहीं आ रही है। वे बाधाएँ आपको सही रास्ता दिखाने के लिए आ रही है। वन्दना करने वाले की ज़िन्दगी में भी बाधा आ सकती है लेकिन अब वो उनसे ऊपर है। वो योग्य है, वो कुशल है-दाहिण भावं च णं जणयई-यह दक्षिण भाव अर्थात् दक्षता, Perfection, Talent वन्दना करने से प्राप्त होता है।

अब क्या बचा इसके सिवाय....। कुछ बच गया हो तो बताओ कि वन्दना की और यह रह गया-सौभाग्य हो गया, आज्ञा का फल हो गया, दक्षता

हो गई–सभी कुछ तो हो गया। विनय सब गुणों का मूल है। जैन धर्म का भी मूल है। सूत्रकार कहते हैं 'विणय मूलो धम्मो।' इसलिए जो विनय भावों से वंदन–नमन करता है, हृदयपूर्वक समर्पित होता है, उसकी जीवन–वीणा का संगीत बज उठता है।

हम देखते हैं कई पुरूष या स्त्रियाँ बहुत कमज़ोर भाव शक्ति वाले होते हैं, इतने दुर्बल होते हैं कि ज़रा–सा पत्ता भी हिल जाए तो काँप जाते हैं। ज़रा सी प्रतिकूलता आ जाए तो उनके रातों की नींद उड़ जाती है। घर में कोई बच्चा ज़रा–सा बीमार पड़ जाए तो माँ–बाप के होशो–हवास उड़ जाते हैं, क्यों? क्योंकि हमारी भाव शक्ति इतनी कमज़ोर है कि छोटी–मोटी घटनाएँ भी हमें हिला डालती है, हमें कँपा देती है। किसी ने एक प्रतिकूल वचन कह दिया और चार रातों तक हम सो ही नहीं पाते, टेन्शन में ही रहते हैं। इसका मतलब क्या है? यह कि हमारी इच्छाशक्ति व भावशक्ति कमज़ोर है, जो हर निमित्त से प्रभावित व पीड़ित होती जाती है।

वन्दना करने वाले की भाव शक्ति प्रबल हो जाएगी, वह उच्च गौत्रीय हो जाएगा। इतनी प्रबल भाव शक्ति होगी कि वो न भी बोले, उसका चेहरा बोलता है। कोई उसके सामने आलतू- फालतू नहीं बोल सकता। आप देखो! कईयों के चेहरे पर ऐसा तेज होता है, कईयों की वाणी में ऐसा शौर्य होता है कि हर कोई उनके सामने कुछ बोल नहीं पाता। जिसे भी उनके सामने बोलने के लिए खड़ा कर दो, वो भीगी बिल्ली बन जाता है–ये गुण आते हैं, ये विशिष्टता आती है वन्दना करने से। परिक्रमा करने से, भक्ति करने से, स्तुति करने से। सब कुछ तो आ गया। ''एके साधे सब सधे।'' गुरु को वन्दना हो जाए तो सारा व्यक्तित्व परिवर्तन हो जाता है, रुपान्तरण हो जाता है, एक कमज़ोर आदमी सशक्त आदमी बन जाता है। कमज़ोर लेश्यावलय बदल जाएगा, सशक्त हो जाएगा।

पहली योग्यता, वन्दना करते ही भाव क्षमता प्रबल हुई, अन्दर का पौरुष जागा, वीर्य जागा, शुभ लेश्या जागी, भाव क्षमता प्रबल हो गई। और फिर उस भाव क्षमता को सही दिशा मिल गई, योग्यता खिल गई। सही मार्ग मिल गया और वो योग्यता दक्ष बन पाई, उसको अब कोई डर या प्रलोभन विचलित नहीं कर सकता। अर्जुन माली जैसा हत्यारा भी सेठ सुदर्शन के आभावलय में आते ही रूपान्तरित हो गया। उसका यक्षावेश, भूत–प्रेत का

प्रभाव सब उतर गया। सेठ सुदर्शन सत्गुरू महावीर का उपासक है, उनकी परिक्रमापूर्वक वंदना करता है तो यह चमत्कार उसके माध्यम से घटित हो गया। इसमें भी शक्ति तो गुरू की ही है, मगर वह विनीत शिष्य के माध्यम से प्रगट हो रही है। पूज्य विराट गुरूजी भी सदा श्री शान्ति सूरीश्वर जी गुरूदेव का नाम लिया करते, उनसे कई चमत्कार घटित हुए किन्तु वे कभी भी स्वयं की महत्ता नहीं कहते। बस, ''गुरू की शक्ति शिष्य की भक्ति,'' इतना ही कहते। वे कहते कि सत्गुरू का ही अतिशय होता है जो शिष्यों से भी चमत्कार करा लेता है, शिष्य का अपना कुछ नहीं होता। उनके द्वारा रचित कुछ पंक्तियाँ-

जो विनय करे, सब भय हरे।
जो अकड़ेगा, वो रखड़ेगा।।

मात्र वन्दना से सब कुछ बदल जाता है। हम लोग वन्दना भी करें और रोना भी रोएँ। रोज़ का रोना रोए जा रहे हैं, कह रहे हैं, कि 'क्या करें जी! बच्चे सुनते नहीं है। क्या करें जी, घर में ये नहीं होता है... वो नहीं होता है। हमें तो बड़ा डर लगता है। यदि डर लगता है, तो गुरु को वन्दना नहीं की अभी। वन्दना करने वाले से डर डरता है। जो गुरु को वन्दना करता है, उसको किस बात का खौफ।

साँचा गुरु का बालका, कदै ना मार्‍या जाय
सिद्ध मरे तो हूँ मरुँ, नहीं तो मरे मारी बलाय

वो कहता है सच्चा गुरु का बालक हूँ। कभी मरता नहीं हूँ। जो सिद्ध मरे तो मैं मरुँ, नहीं तो मरे मेरी बला। मैं किस बात का मरुँ, किस बात से डरुँ? उसको डरने की ज़रुरत नहीं, उसको मरने की ज़रुरत नहीं, उसे खौफ नहीं-जो गुरु को वन्दना कर रहा है। उसके भीतर का अज्ञान दूर हो रहा है। उसके भीतर की नरक दूर हो रही है। उसके भीतर की माया दूर हो रही है, उसके भीतर की तिर्यंच गति दूर हो रही है, उसके भीतर की वक्रताएँ समाप्त हो रही है। उसके भीतर की आसक्ति समाप्त हो रही है, उसके भीतर से संसार के बंधन दूर हो रहे हैं, शिथिल होते जा रहे हैं-वन्दना करने से।

कथा साहित्य में वर्णन आता है कि राजा श्रेणिक ने वन्दना की-निष्काम भाव से करता गया, भक्ति भाव से करता गया, इतनी वन्दना कर ली कि छह नरक के बंधन टूटते गए-छठी के टूट गए, पाँचवी के टूट गए...इस तरह करते-करते वह पहली नरक तक पहुँच गया। जैसे ही वह रूका और भगवान ने बता दिया कि 'तेरी वन्दना का यह फल हो गया श्रेणिक!' तो वो

कहता है कि 'रूको, एक बार और वन्दना कर लूँ, पहली नरक भी टूट जाए मेरी।' तब भगवान कहते हैं, 'अब ठहर जा श्रेणिक! अब तेरे मन में लोभ आ गया है कि अब वन्दना कर लूँ तो यह भी टूट जाए, लेकिन अब टूटेगा नहीं। वन्दना चाहे तू कर ले लेकिन बंधन तभी टूटेंगे, जब वह केवल समर्पण लिए हो, कुछ पाने के लिए नहीं हो।' कुछ चाहत लिए न हो, किसी कांक्षा से युक्त न हो, तो देखो, सातवीं नरक से कहाँ पहुँच गया–पहली नरक तक और कांक्षा आते ही वहीं ठहर गया। इसीलिए यदि कांक्षा नहीं है, तो वन्दना समकित साधना है।

वन्दना व्यक्ति को समकित बनाएगी। कांक्षा आ गयी, फिर वन्दना असमकित हो जाएगी। इसीलिये उपासना हो, वन्दना हो, तो गुरु के गुणों की हो। गुरु की भक्ति हो तो केवल गुणों की भक्ति हो। गुणों के प्रति आल्हाद भाव हो, आनंदयुक्त चित्त हो। हृदय में भरपूर प्रेम हो, सेवा भाव हो, साता उपजाने का भाव हो किन्तु 'तेरा गुरू–मेरा गुरू' ऐसा कोई भेदभाव न हो। भावपूर्वक तीन परिक्रमा करो–तीनों लोकों के बन्धन कट जाएँगे, और केवल 'प्राग्भा' यानि सिद्धशिला पर व्यक्ति की चेतना स्थिर हो जाएगी। वह प्राग्भा को उपलब्ध हो जाएगी।

जो तीन परिक्रमा से वन्दना करता है, उसके मन की शुद्धि, वचन की शुद्धि, काया की शुद्धि हो जाएगी। उसके भीतर का ज्ञान गुण, दर्शन गुण और चरित्र गुण प्रकट हो जाएगा। तीन परिक्रमापूर्वक वन्दना करने से उसके भीतर जो स्त्रैण भाव है, जो पुरुषैण भाव है और मध्य भाव है–वह उन तीनों भावों से विरत हो जाएगा और मात्र आत्म स्वभाव में उसकी गति होनी शुरु हो जाएगी। तीन परिक्रमापूर्वक वन्दना करने से, उसकी चेतना की आकृति ॐकारमय हो जाएगी। तीन परिक्रमापूर्वक वन्दना करने से तीन आँटे पूरे होते हैं, तब ॐकार की आकृति बनती है और ॐकार की आकृति बनने के बाद जब शिष्य गुरु के समक्ष बैठ जाता है, तो ऐसा बैठता है मानो तीनों लोक समाप्त हो चुके हैं, और वो सिद्ध शिला पर विराजमान है।

वह सिद्ध शिला पर ही विराजमान है, इसीलिये जो लोग 'चैत्य वन्दन' करते हैं, वो वन्दना की विधि करने के बाद स्वास्तिक बनाते हैं और उसके ऊपर सिद्धशिला बनाते हैं। स्वास्तिक चारों दिशाओं का प्रतीक है। उसके चार अंग, चार पग, चार पैर, चार पाद चारों गतियों के प्रतीक है। स्वास्तिक बनाते हुए

शिष्य यह भावना करता है कि अब मैं चारों गतियों से मुक्त हुआ और गुरू महाराज के समक्ष यानि सिद्धशिला पर आसीन हुआ। उपासक जिस भाव से वन्दना कर रहा है, उसी भाव को उपलब्ध हो रहा है।

हम भी वन्दना करते हुए अपने सारे कर्मों से मुक्त बनें, नरक से मुक्त बनें, तिर्यंच से मुक्त बनें और अपने आत्म स्वभाव में आ जाएँ। आत्म गति में आ जाएँ, तो वन्दना करते हुए हम अपने आत्म स्वरूप को उपलब्ध हो जाएँगे।

जो आत्म स्वरूप को उपलब्ध हो गया, वो जहाँ रहे वहाँ आनन्द ही आनन्द को उपलब्ध होगा।

ॐ शान्ति! ॐ शान्ति! ॐ शान्ति!!

आत्मज्ञानी पूज्य श्री विराट गुरुदेव एवं साध्वी वैभवश्री 'आत्मा' जी म.सा.
द्वारा रचित एवं जय गुरुदेव साहित्य द्वारा प्रकाशित प्रकाशन

समय वज्जिका	पृ.सं.398	मूल्य 150.00
शुभ प्रभात	पृ.सं.225	मूल्य 100.00
ईशावास्योपनिषद्	पृ.सं.188	मूल्य 100.00
आत्मपूजा उपनिषद्	पृ.सं.158	मूल्य 80.00
किसने बनाया संसार!	पृ.सं.109	मूल्य 100.00
मन, मान और मानव	पृ.सं.236	मूल्य 100.00
क्या कहता है आचारांग! भाग-1	पृ.सं.200	मूल्य 200.00
क्या कहता है आचारांग! भाग-2	पृ.सं.377	मूल्य 250.00
क्या कहता है आचारांग! भाग-3	पृ.सं.352	मूल्य 300.00
त्रिशूल	पृ.सं.330	मूल्य 150.00
बात णमोकार की	पृ.सं.255	मूल्य 200.00
सूत्रों में ज्ञान, जीवन की शान	पृ.सं.208	मूल्य 150.00
मुक्त गीता	पृ.सं.221	मूल्य 31.00
समाधान का सूर्य	पृ.सं.240	मूल्य 200.00
मानो मत, जानो!...	पृ.सं.208	मूल्य 100.00
गुरू गीता	पृ.सं.208	मूल्य 150.00
अच्छा भावो...!! अच्छा पावो...!!	पृ.सं.108	मूल्य 200.00
गुरूजी कहते हैं।	पृ.सं.176	मूल्य 200.00
तत्त्वार्थाधिगम सूत्र भाग-1	पृ.सं 344	मूल्य 1008.00
वाह रे जिंदगी...चाहो तो सुलझा लो	पृ.सं 242	मूल्य 250.00
वैभव वाणी	पृ.सं 261	मूल्य 300.00

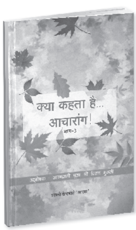

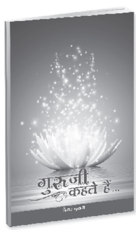

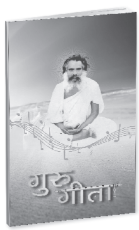

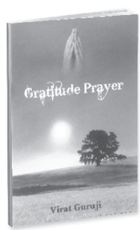

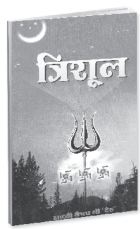

समस्त साहित्य विभिन्न Online Websites एवं
www.charammangal.com पर उपलब्ध है।